

ISSN 2277-2014

RESEARCH DISCOURSE

An International refereed research Journal

Vol. III

No. 2

April-June 2013



Editor

Dr. Anish Kumar Verma

Associate Editors

Dr. Rajneesh

Dr. Lalima Singh

Published by :

South Asia Research & Development Institute
Varanasi, U.P. (INDIA)

Patron

Ex. Prof. Gurudin, M.G.K.V.P., Varanasi, U.P.

Editorial Board

Prof. Munnilal, Varanasi, U.P.

Prof. Shri Bhagwan Rai, Varanasi, U.P.

Dr. Deenbandu Tiwari, Varanasi, U.P.

Dr. Rekha, Varanasi, U.P.

Dr. Adesh Kumar Maurya, Varanasi, U.P.

Dr. Ramesh Kumar, Hariyana.

Dr. Suresh Kumar Singh, Jaunpur, U.P.

Dr. H.C. Purohit, Jaunpur, U.P.

Dr. Syed Mehartaz Begum, Delhi.

Dr. Anjaneya Pandey, Jaunpur, U.P.

Anna Malingdog

(Philippines)

Shoir Ajore

(Phillistin)

Advisory Board

Prof. Archana Sharma, Meerut, U.P.

Prof. Renuka Kumari Sinha, Bihar.

Prof. Vasant S. Ghule, Maharashtra.

Dr. Rakesh Kumar Maurya, Varanasi, U.P.

Dr. Sushil Kumar Gautam, Varanasi, U.P.

Dr. Pravin G. Kankute, Maharashtra.

Dr. Anurag Mishra, Jaunpur, U.P.

© Editor

Published by :

South Asia Research & Development Institute

B. 28/70, Manas Mandir, Durgakund

Varanasi, 221005, U.P. (INDIA)

Email : researchdiscourse2012@gmail.com

Mob. 09453025847, 08687778221

'Research Discourse': An International refereed research Journal, Published Quarterly.

Note: Scholars will be answerable to the contents of their articles.

All disputes and complaints are subject exclusively to the Jurisdiction of the courts/tribunals/forums at Varanasi Only.

I Ei knndh;

fo"k; & l pph

अनुसंधान समाज का प्रतिबिम्ब है, जिसमें समाज और मानव के गतिशील जीवन की छवि परिलक्षित होता है। दुसरे शब्दों में, अनुसंधान सामाजिक सारोकार के स्वर को मुखरित करता है।

समकालीन भारतीय समाज की संरचना में स्थापित सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य के स्थान पर एक नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। इसके अग्रदूत भारत के युवा हैं, जो भारतीय सामाजिक संरचना में विशिष्ट परिवर्तन चाहते हैं।

उक्त सन्दर्भों एवं सरोकारों को दृष्टिगत करते हुए रिसर्च डिस्कोर्स के इस अंक में हमने शोध के विविध बिन्दु पर नवीन, रोचक एवं उच्चस्तरीय शोध निबन्ध प्रस्तुत करने का अल्प प्रयास किया है।

रिसर्च डिस्कोर्स के प्रकाशन में अशुद्धियों को शुद्ध करने में MkND vkuln dēkj] MkND i# "kkūke yky fot;] MkND fnusk dēkj] MkNfpjatho dēkj Bkdj] MkND /kuat; 'kekZ के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। प्रस्तुत अंक के विलम्ब एवं त्रुटियों के लिए हम सभी पाठकों से क्षमा प्रार्थी है।

अन्त में, सभी लेखकों, पाठकों एवं अन्य विद्वतजनों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हुए उनसे सुझाव, सहयोग एवं आशीष की कामना करते हैं।

I Ei knnd

1. xkE; fodkl vkj xk/kh dh nf"V %
Hkkjrh; ifji; ea 1&5
शैलेन्द्र कुमार उपाध्याय
2. i ; kbj .k ds i {k/kj vkfnokl h 6&10
निकिता कुमार
3. l edkyhu efgyk yf[kdkvka dh
l 'tukRed fplru 11&16
रवि कुमार गोंड
4. ukxktū ds miU; kl ka dh ikl fxdrk 12&19
शिखा यादव
5. Lora=rk ds lk' pkr ukjh dk i fRu : lk
vkj fgluh miU; kl 20&22
श्रीमती भारती
6. Lka nkf; drk , oa tkfrok ds l anhz ea
fujkyk dk x | fplru 23&25
अंजू सिहारे
7. jkenj 'k feJ dh l tLkRed
l onuk dk Lo: i 26&29
पद्माधीमान
8. JhenHkxon- xhrk ea ; K
dk ekgRE; o.kū 30&33
अरुण कान्त सिंह
9. chl oha 'krh ds l d'r i gl ukā dk ofo/; 34&39
सविता ओझा
10. l ân; dk l k/kj .khdj .k % eeRokfn l sefDr 40&43
सीमा सिंह
11. Hkkjrh; uotkj .k dk Lo: i 44&46
vkj nfyR pruk
रजनीश कुमार पाण्डेय

12. onka ea jk"Vh; | Uns k&, d v/; ; u 47&51
अतुल गुप्ता
13. vdcj }kjk fpf=r djk; s x; s iæ[k fp=
, oa mudh , frgkfl d i "Bhkfe 52&55
अरविन्द्र कुमार यादव
14. xkthij tuin ds foRrfoghu ekU; rk
i klr ek/; fed fo | ky; ka ea v/; ki ujr
i # "k , oa efgyk f' k {kdka dh | eL; kvka
dk ryukRed v/; ; u 56&58
नागेन्द्र राम
15. Ñf" k fodkl ea foUk dh Hkfedk 59&61
उर्मिला धुवकारिया
16. d' ehj | eL; k ea | a Ør jk"V^a
| k dh Hkfedk 62&67
सुरजीत सिंह भदौरिया
17. ftyk | gdkjh dlnh; cãd e; kfnr]
fofn'kk dh foRrh; fLFkfr dk
fo' y'sk. kkRed v/; ; u 68&73
चन्द्रशेखर पाण्डे
18. xhrk ea fo"kkn ; ksx dh fLFkfr 74&78
सूरज प्रकाश गुप्त
19. **Sense of Deprivation and Self Concept
Among School Going Children-A
Sociological Study** 79-84
Sunita Pandey
20. **'Mary Wollstonecraft(s)': Tracing
Mary Wollstonecraft's Journey
from the Margins to the Center of
Literary Discourse** 85-91
Shaweta Nanda
21. **Transcendence of Bodies into Love:
C. Rajagopalachari's Hunchback Sundry** 92-96
Shahid Husain
22. **The Effect of Occupational Stress
on Teacher Effectiveness** 97-101
Kuldeep Birwal
23. **Analyzing Job satisfaction and Teaching
Aptitude of male and female teachers
of self-financed** 102-104
Puneet Kumar
24. **A study of Emotional intelligence of
prospective Teachers in context to
certain demographic factors** 105-109
Preeti Tyagi
25. **Quality concern in Teacher Education
through innovative practices** 110-114
Priyanka Sharma
26. **Household Income and Expenditure
pattern People in Lucknow district** 115-120
Shivani Srivastava
27. **E-Learning : A Study** 121-123
Chandra Prakash Dubey
28. **Importance Of Soil
In Environmental Sphere** 124-127
Manjeera Acharya
29. **Moving Beyond the Rhetoric : New
Global & Domestic Challenges of
Enforcement in IHL** 128-133
Pawan Kumar Maurya
Anish Kumar Verma
- i lrd | eh{k
dgkj ds thou | ä"z dks c; k djrk
*dgjok ykdxhr^ 134&135
प्रोफेसर (डॉ०) हरिशंकर मिश्र

xkE; fodkl vkj xk/kh dh nf"V %
 Hkkjrh; ifji&; ea
 'ksylnz dpekj mi k/; k; *

वर्तमान युग में महात्मा गाँधी की आर्थिक नीति तथा उनके विचार केवल भारत के लिए ही नहीं वरन् समूचे विश्व के लिए अत्यन्त प्रांसगिक है। गाँधी जी के भावी आर्थिक समाज का सुप्रसिद्ध आदर्श ट्रष्टीशिप की अवधारणा थी। गाँधी जी समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को मिटाना चाहते थे, व्यक्तिगत सम्पत्ति का अन्त चाहते थे, लेकिन व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति से वंचित करने के लिए किसी भी प्रकार के हिंसा के पक्षपाती नहीं थे। उनका विचार था कि बिना आर्थिक प्रजातंत्र के राजनीतिक प्रजातंत्र अव्यवाहरिक है। उन्होंने सुझाव दिया कि उत्पादन और वितरण पर पूँजीवादी वर्ग का प्रभुत्व हो, किन्तु वे स्वयं को उस धन तथा सम्पत्ति का स्वामी न समझ कर ट्रष्टी समझें। सम्पत्ति उनके पास रहे, वह अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के लिए उसमें से वाजिव खर्च करें और अवशिष्ट धन तथा सम्पत्ति का समाज की धरोहर समझे तथा जनकल्याण के लिए उसका व्यय करें।¹ इससे धन का विकेन्द्रीकरण तो होगा ही, साथ-साथ पूँजीवादी एवं साम्यवादी समाजों की भाँति यहाँ वर्ग-संघर्ष का उदय नहीं होगा, परिणामस्वरूप ईर्ष्या एवं द्वेष से भारत सुरक्षित रह सकेगा।² इस प्रकार गाँधी जी द्वारा प्रस्तुत ट्रष्टीशिप का सिद्धान्त न केवल समाज के उज्ज्वल आर्थिक भविष्य को सुनिश्चित करता है; बल्कि किसी वर्ग संघर्ष को जन्म न देते हुए प्रेम एवं सदव्यवहार पर आधारित शोषणमुक्त, समतायुक्त एवं स्वावलम्बी समाज के निर्माण में सहयोग भी प्रदान करता है। यह सिद्धान्त अमिरी को यह विश्वास दिलाता है कि जो धन उनके पास है वह जनता के श्रम का फल है, केवल उन्हीं के प्रयासों का फल नहीं है। यह एक सामाजिक उत्पत्ति है; अतः व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए समाज के लिए इसका उपयोग करना हर दृष्टि से उचित है। इतना ही नहीं

उनका कर्तव्य केवल यही नहीं है कि वे अपनी ही देखभाल करें वरन् उनको दूसरो का भी ध्यान रखना चाहिए। श्रमिक पूँजीपतियों को अपना हितेषी समझेंगे और उन पर भरोसा करेगे। गाँधीजी का विश्वास था कि ऐसे प्रणाली स्थापित होने से पूँजीपतियों और श्रमिकों में कोई भेद नहीं रहेगा।³ जिससे समाज के अंतिम व्यक्ति को वह सभी मूलभूत सुविधाएँ प्राप्त हो जायेगी जो कि अमीर लोगों को प्राप्त है। इसलिए उन्होंने नर-सेवा को ही नारायण सेवा मानकर दलितोद्धार एवं दरिद्रोद्धार को अपनी जीवन का ध्येय बनाया।⁴

गाँधी जी भारत का विकास ग्रामों की उन्नति तथा लघु एवं कुटीर ग्रामोन्मुखी उद्योगों की स्थापना में देखते थे।⁵ उन्होंने यह महसूस किया कि गाँवों का विकास केवल कृषि कार्य के द्वारा नहीं किया जा सकता है। क्योंकि भूमि की पूर्ति सीमित है और कृषि कार्य गाँव के सभी लोगों की रोजगार भी प्रदान नहीं कर सकती। इसलिए उन्होंने ऐसे उद्योगों की स्थापना का सुझाव दिया जो कि भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हो। कुटीर उद्योग से गाँधी जी का अभिप्राय था – ग्रामोद्योग। उनके अनुसार दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की वस्तुएं गाँवों में ही उत्पादित करनी चाहिए। जहाँ तक हो सके गाँव आत्मनिर्भर बने, और शहरों पर कम से कम आश्रित हों। गाँव के लोगों की गरीबी दूर करने तथा शहर और गाँववासियों की आय में विषमता को समाप्त करने, और स्वदेशी उद्योगों के संरक्षण तथा विकास के लिए उन्होंने ग्रामोद्योगों के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। वर्तमान व्यापारिक और नागरिक सम्यता के स्थान पर वह एक नवीन विकेन्द्रित ग्रामीण सभ्यता का निर्माण करना चाहते थे, ताकि थोड़े से शहर असंख्य गाँवों का शोषण न कर सकें और प्रत्येक गाँव एक स्वावलम्बी इकाई बन जाए।⁶ वस्तुतः शोषणविहिन समाज की स्थापना के लिए विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था अनिवार्य है। भारत की जनसंख्या का लगभग सत्तर प्रतिशत लोग गाँवों में निवास करते हैं। इसलिए भारत में विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था ग्राम प्रधान ही हो सकती है। गाँधी जी भारत के व्यापक आर्थिक एवं सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीयकरण के पक्षधर नहीं थे। भारत की अधिकांश जनसंख्या खेत खलिहान गाँवों में रहती है अतएव गाँधी जी चाहते थे कि उनकी जीवनयापन, अन्न-वस्त्र आदि की आवश्यकताएं वही आस-पास सुलभ हो जाये जिससे वे आत्म निर्भर हो सकें।

खादी और ग्रामोद्योग के द्वारा गाँवों से शहरों की ओर जो पलायन हो रहा है इस समस्या से भी निजात मिलती है। इससे ग्रामीणों को

*वरिष्ठ प्रवक्ता, वाणिज्य विभाग, टी.डी.पी.जी. कालेज, जौनपुर, उ०प्र०

प्राकृतिक वातावरण में जीने के अवसर सुलभ हो जाते हैं। महानगरों के कृत्रिम जीवन से दूर, मजदूर अपने परिवार के साथ रहता है, इससे आधुनिक सभ्यता के प्रवाह में उखड़ते गांव और बहती तथा डूबती विशाल जनसंख्या की रक्षा हो जाती है। कृषि और कुटीर उद्योगों के सहज समन्वय के फलस्वरूप केन्द्रित उत्पादन से बेदाग इन गांवों में न तो अनचाही बेकारी होगी और न तो यहाँ सामाजिक, आर्थिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी असंख्य समस्याएं पनप सकेंगी, जो आज प्रायः नगरों में व्याप्त हैं। इसके अतिरिक्त विशुद्ध आर्थिक तथा उत्पादन-मूल्यों के कठोर मापदण्डों से भी गाँधीजी की ग्राम्य योजना एक वांछनीय और बेहतर अर्थव्यवस्था है। गाँधी जी का कहना था, "यदि मेरा स्वप्न पूरा हो जाए तो भारत के सात लाख गांवों में से हरेक गाँव समृद्ध प्रजातंत्र बन जाएगा। उस प्रजातंत्र का कोई व्यक्ति अशिक्षित नहीं होगा, रोजगार के अभाव में कोई बेरोजगार नहीं रहेगा, बल्कि किसी न किसी काम-धन्धे में लगा रहेंगा।"⁷

स्वदेशी के आधार को विस्तृत करने के लिए गाँधी जी ने कहा कि जिस प्रकार देशी उद्योग विदेशी निर्माताओं की तुलना में तरजीह या संरक्षण पाने के अधिकारी हैं उसी प्रकार कुटीर और ग्रामीण उद्योग भी मशीन सेवनी वस्तुओं के विरुद्ध, चाहे वे स्वदेशी हो या विदेशी तरजीह एवं संरक्षण पाने के अधिकारी हैं। उनकी सोच थी कि शहरों द्वारा गांवों का शोषण बन्द किय जाना चाहिए, केवल इसी प्रकार आम आदमी के हितों की रक्षा हो सकेगी।⁸ उन्होंने कहा कि स्वदेशी सिर्फ वस्तु नहीं होती बल्कि वह हमारे अन्दर कि भावना है जो हमें दूरस्थ परिवेश को छोड़कर निकटतम परिवेश के व्यवहार और उसकी सेवा के लिए प्रेरित करती है। हमें अपने निकटवर्ती पड़ोसियों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं का ही प्रयोग करना चाहिए और इसमें अगर कोई कमी है तो उन्हें दूर कर उन्हें कार्यकुशल और पूर्ण बनाना चाहिए।⁹

सुविख्यात अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वारी इन्टू द पावर्टी आफ नेशन्स" में गाँधीजी के ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योगों पर बल देने के विचार का समर्थन किया है। उन्होंने कहा कि वर्तमान कुटीर उद्योगों से प्रतियोगिता करने वाले उद्योगों का विकास लाखों लोगों के हाथों से रोटी और रोजी छिन लेगा और उनके पास रोजगार या आय का कोई तात्कालिक विकल्प नहीं रहेगा। यह आयोजन की दृष्टिकोण से युक्तिसंगत नहीं होगा।¹⁰ इसी प्रकार इंग्लैण्ड के प्रो. शूमेकर ने भी गाँधी के

आर्थिक विचारों का समर्थन करते हुए कहा कि "सफलता का रहस्य बड़े पैमाने के उत्पादन में न होकर जनता के लिए उत्पादन में है।" श्री चेस्टर बोल्स ने भी भारत में ग्राम विकास की सफलता के लिए समस्त अवसर उपलब्ध कराने पर बल दिया है। इसी प्रकार भारत के जाने माने वैज्ञानिक और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष प्रो० यशपाल ने कहा कि "देश के सपने पूरे करने के लिए अनुसूचित विकास का गाँधी को सुझाया मार्ग अपनाना चाहिए। गाँधी का नारा जनता द्वारा उत्पादन न कि जनउत्पादन अपनाना चाहिए। सभी उपभोक्ताओं को यह अधिकार है और यह उनका कर्तव्य है कि वह भी उत्पादन में सहभागी हो। गाँधीजी का तरीका अपनाए बिना वैश्वीकरण, असमानताएं, कट्टरवाद, आतंकवाद और नरसंहार से मुक्ति नहीं मिलेगी। इसके बिना पर्यावरण को भी भविष्य के लिए सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा।

हमें आज यह स्वीकार करना होगा कि गाँधीजी की आर्थिक विचारधारा बुनियादी तौर पर युक्तिसंगत और हमारे समय के सर्वथा अनुरूप है। क्योंकि उन्होंने आर्थिक मानव के स्थान पर समग्र मानव को महत्व दिया और विकास के क्रम में अंतिम व्यक्ति की तस्वीर पेश की। उन्होंने उद्योगवाद के अंधकारपक्ष और भौतिक विकास के लिए मानव द्वारा चुकाई जाने वाली कीमतों की ओर इशारा किया। वैश्वीकरण के सम्बन्ध में गाँधीजी ने कहा था कि "मैं नहीं चाहता कि मेरा मकान चारों ओर दीवारों से घिरा हो और मेरी खिड़कियाँ बंद हो। मैं तो चाहता हूँ कि सभी देश की संस्कृतियों की हवायें मेरे घर में जितनी भी आजादी से बह सके बहे, लेकिन मैं यह कभी नहीं चाहूँगा कि उनमें से कोई हवा मुझे मेरी जड़ों से ही उखाड़ दे।"¹¹ इस प्रकार इनके मॉडल में जहाँ आर्थिक जीवन की अनगिनत समस्याओं एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त अनेक जटिलताओं का समाधान निहित है वहीं भविष्य की सुखद मानव जीवन का एक उत्तम बीज। इसलिए जरूरत इस बात की है उनके इस फार्मूलों को व्यवहार में लाने के लिए एक विशेष वातावरण और स्वच्छ मनोदशा तैयार की जाए। इस संदर्भ में लुई फिशर का कथन उल्लेखनीय है कि अगर मनुष्य को जीवित रहना है, सभ्यता को जीवित रहना है और स्वातन्त्र्य, सत्य एवं शालीनता के पुष्प को विकसित होना है, तो बीसवीं शताब्दी का अवशिष्ट और उसके बाद का काल न तो लेनिन या ट्राट्स्की का होगा, न मार्क्स या माओ का न होगा, बल्कि महात्मा गाँधी का होगा।"¹²

l nHkZ %

1. गाँधी, एम.के., 1959; इकॉनॉमी एण्ड इण्डस्ट्रीयल लाईफ एण्ड रिलेशन्स, खण्ड-I, अहमदाबाद, पृ0 157
2. जे.सी. कुमारप्पा, "गाँव आन्दोलन क्यों? अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ, वर्धा
3. जे.वी. कृपलानी; गाँधी हिस लाईफ एण्ड थॉट, पृ0 337
4. तिलक नारायण हजेला : आर्थिक विचारों का इतिहास पृ0 468
5. पराशर, भगत राम; "गाँधीजी की कुटीर उद्योग नीति और उसकी प्रासंगिकता, योजना (मासिक पत्रिका), अक्टूबर, 1979
6. जे.सी. कुमारप्पा, 1958; "इकॉनॉमी ऑफ पर्मानेन्स" काशी, अखिल भारत सर्व सेवा संघ, पृ0 125
7. एम.के. गाँधी "हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद पृ0 3
8. प्यारे लाल गाँधी, गाँधीजी की स्वदेशी भावना, पृ0 29
9. कलेक्ट्रेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी (नई दिल्ली : पब्लिकेशन्स डिविजन, भारत सरकार) ग्रन्थ XIII, पृ0 219
10. गुन्नार मिर्डल; "एशियन ड्रामा : ऐन इन्क्वायरी इन्टू दि पावर्टी आफ नेशन्स"
11. महात्मा गाँधी, माई एक्सपीरिमेंट विथ ट्रूथ, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद

i ; kbj .k ds i {k/kj vkfnokl h

fufdrk dekj*

"विकास को तभी समग्र कहा जा सकता है जब वह जनपक्षधर हो तथा पारदर्शी भी। जनतांत्रिक व्यवस्था में पारदर्शिता का सर्वाधिक महत्व है। समाज में स्थित हमारी जनतांत्रिक महत्वाकांक्षाओं के बावजूद इधर विकास के नाम पर जन विरोधी हरकतें देखने को मिल रहीं हैं। जाहिर है कि ऐसी हरकतों के मार्ग एवं लक्ष्य पारदर्शी नहीं हैं। समाज व्यवस्था की यह एक अवांछित समांतर व्यवस्था है जो स्पष्ट और अस्पष्ट रूप में हमारे दैनंदिन जीवन के अर्थ को नष्ट कर देती है। इसका सबसे ज्यादा नुकसान झेलना पड़ता है हाशियीकृत तबके के लोगों को। इसकी वजह से ही जनतंत्र पर सवालिया निशान पड़ जाते हैं।" आदिवासियों को भूमण्डलीकरण एवं निजीकरण के चलते विस्थापित करने से पर्यावरण पर बुरा प्रभाव पड़ा है। नयी-नयी योजनाएँ आने से जमीन पर कब्जा कर पेड़-पौधों को नष्ट किया जा रहा है। जंगलों को काटा जा रहा है। फ़ैक्टोरियों से निकलने वाले कैमिकल से जमीन बंजर होती जा रही है। कारखानों के उठते हुए धुँए से ओजोन परत को नुकसान पहुँच रहा है।

"इतिहास पर दृष्टिपात करें तो 1947 से पहले औपनिवेशक शासकों ने भी भारत के लोगों को सभ्य बनाने (पुस्तक : White Men's Burden), कृषि समाज का रूपांतरण करने और राजस्व का मुनाफ़ा बढ़ाने की गरज से कई प्रकार के भूबंदोबस्त कानून लागू किये थे। इस सन्दर्भ में तत्कालीन भूअधिग्रहण कानून, वन कानून को देखा जा सकता है। 18 वीं सदी से लेकर 20 वीं सदी के मध्यातक विभिन्न समय में जल-जंगल-जमीन को लेकर हुए आदिवासी व किसान विद्रोह, संथाल विद्रोह, मुंडा विद्रोह भील विद्रोह, तैभागा आंदोलन आदि इसके उदाहरण हैं।" पैसे कमाने की होड़ में आदिवासियों को विस्थापित किया जा रहा है जिसके एवज में उन्हें कुछ नहीं मिलता, उनके जीने के साधनों पर ताला लग चुका है। ऐसे में वह इसका विरोध करते हैं जो

* शोध छात्रा, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ0प्र0

भयावह विद्रोह के रूप में सामने आता है। पहले वह शान्ति से ही बात समझाने का प्रयत्न करते हैं पर जब उनकी कहीं कोई सुनता नहीं तब उनका विरोध आन्दोलन का रूप ले लेता है। ऐसे में कई बेकसूर जानें चली जाती हैं। “विकास के नाम पर आज भारत सरकार ने भारी संख्या में उनकी ज़मीन अधिग्रहण की है और उन्हें विस्थापित बना दिया है। फलतः वह या तो रोजगार की खोज में पलायन कर दूसरे प्रदेशों में जाने लगे हैं, जहाँ उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो जाती हैं अथवा वे अपने ही घर में विस्थापित होकर किसान से खेतिहर मजदूर या बंधुआ बन जाने पर मजबूर हो गए हैं।”³

आदिवासियों की अपनी संस्कृति, परम्पराएँ, साहित्य है। वह जंगल का निवासी है तथा वहीं की प्राकृतिक वस्तुओं से अपना जीवन यापन करता था। भूमण्डलीकरण एवं निजीकरण, बड़ी कंपनियों के उद्योगों, बाँध निर्माण के चलते आदिवासियों को उनकी ज़मीनों से बेदखल किया जाता है। “महुआ के फूल और उसके बीजों के तेल, पलाश के फूलों से रंग और उसकी छाल से बनी गोंद, कुसुम के फूलों का तेल, जड़ी-बूटियों से चिकित्सा करने का रोजगार, लकड़ी से उपस्कर, पत्तों से पत्तल और बीड़ी और झाड़ी की टहनियों से दतवन बनाकर बेचने से उनका जीवनयापन होता था। लेकिन जंगल कटने से, बाँध बनने से, कोयला खनन की ओपन कास्ट के अपनाने से सब खत्म हुआ ही, साथ ही सरकार द्वारा सन् 1979 सीमा निर्धारण व अन्य कानून बनाकर आदिवासियों के जंगल में प्रवेश पर रोक लगा दी गई, जिसने उन्हें पलायन पर मजबूर किया।”⁴ पर्यावरण पर भी जंगल कटने से बुरा असर पड़ा है।

taxy ds gkykr ij eMkjh es xhr&

“बिर दुरड”

“बादो ताबू बाआ हिजु तान

बिर दो ताबू बिर उजार तान

इला हो हगा मिसी को

सारजोम बा दो छबा तानकृ”⁵

(बसंत का मौसम आया

लेकिन हमारा जंगल तो उजड़ गया

ओ भाईयों और बहनों

साल का फूल तो खत्म हो गया)

“झारखण्ड की धरती के बंजर होने की समस्या हाल के दशकों में उभरी है। खनिजों के लगातार उत्खनन और जंगलों की कटाई से झारखण्ड की धरती की उर्वरता लगातार नष्ट होती जा रही है। खनन के बाद भूमि के समतलीकरण का कार्य न होना और खोदे गए स्थानों को भरकर फिर से पेड़-पौधों के लायक बनाए जाने का काम पिछले कई दशकों से नहीं किया गया। धरती के नीचे की सम्पदा का दोहन करने के बाद भूमि की उपरी सतह को बेकार छोड़ देना यहाँ थोपी विकास नीति का ही एक दुष्परिणाम है।”⁶ इसी तरह चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब इस ज़मीन पर सिर्फ रेगिस्तान रह जायेंगे। “बिहार विधानसभा की पर्यावरण समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि— ‘विकास के यही तरीके जारी रहे तो झारखण्ड को आगामी बीस सालों में रेगिस्तान होने से नहीं बचाया जा सकेगा।’”⁷ जंगलों के विनाश के चलते वर्षा में बहुत कमी आयी है। झारखण्ड में इसके चलते चाय के बागान लुप्त हो चुके हैं। हरी-भरी धरती धीरे-धीरे उजाड़ हो रही है। जैसे अपने ऊपर हो रहे दुराचार को चुपचाप सह रही हो। ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ में रणेन्द्र ने लिखा है— “मीलों तक पसरे पहाड़ के ऊपर का यह चौरस इलाका मन को और उचाट कर कहा था। छिटपुट जंगल बाकी खाली दूर-दूर तक फैले उजाड़-बंजर से खेत। बीच-बीच में खुली खदानें। जहाँ से बॉक्साइट निकाले जा चुके थे वे गड्ढे भी मुँह बाये पड़े थे। मानों धरती माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हों।”⁸

आज के विश्वव्यापी आदिवासियों के जीवन पर सर्वाधिक प्रभाव वहाँ यूरेनियम प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले खनन का पड़ रहा है। जिससे जो रडियोधर्मी प्रदूषण फैल रहा है उसका दुष्प्रभाव द्वितीय विश्व युद्ध में हिरोशिमा तथा नागासाकी पर गिराए गए परमाणु बमों के दुष्परिणामों से भी कई गुना अधिक है। आदिवासी मनुष्यों की अनेक पीढ़ियाँ विकृत और विकलांग बच्चों को जन्म दे रही हैं जिससे संसार के लाखों करोड़ों मनुष्य क्रमशः नष्ट होते जा रहे हैं।⁹ आदिवासियों का पर्यावरण सृजन में विशेष योगदान रहा है। उनकी संस्कृति, परम्पराओं में इसके उदाहरण मिलते हैं। उनका जीवन जंगल पर ही निर्भर रहता है। रोजमर्रा की दिनचर्या में, पर्व-त्योहार की तैयारियों में बहुत से कार्यों का वैज्ञानिक महत्व है। घर में गोबर लीपने से सफाई के साथ कीटाणु भी मर जाते हैं जिससे बीमारियों की सम्भावना कम हो जाती है।

नापे दोपे बाड़ा गुरि: तना माई, नलिंग दोलिंग दुरंग बसा तना।
और दुरंग तेलाय तेगे माई, नालो रेबेन कुलसु लिंगा।
कुलसुई, कुलसुई, दोना माई, कुरुचु काठारेह कुलसुई बेन।
तेगांय तेगांय दोना माई, दोया दानि रेह तेगांय बेन ।।¹⁰

{हे प्रिय! तुम लोग गुरि: पर्व के अवसर पर देर तक गोबर लीपती हो,
हम तुम्हारे गाँव में गीत गाने के लिए कब से बसे हैं। गीत का उत्तर दिये बिना
मुझे लात मत मारना}

“प्रकृति, पशुधन और मनुष्य की रक्षा के लिए, अच्छी बारिश, बेहतर फसल और खुशहाली के लिए वह देसाउलि की पूजा अर्चना करता। फूल, पत्ता, चावल, दाल, सिंदूर, आदि चढ़ाकर, मुर्गे की बलि देकर ही आदिवासियों के आराध्य देवताओं को प्रसन्न करता”¹¹ “औपनिवेशक काल में इन आदिवासी जातियों की जंगल से 60 प्रतिशत जरूरतें पूरी होती थीं। कुछ आदिम आदिवासी जातियाँ बिरहोर और पहाड़ियाँ तो जंगल पर ही निर्भर हैं। जंगल आधारित आदिवासी पर्व सरहूल, बाहा या बा पर्व यहाँ मनाए जाते हैं। मुगलों ने साल के जंगलों से झारखण्ड की पहचान की।¹² आदिवासियों के अस्मिता के प्रश्न से पहले जल-जंगल-जमीन के संरक्षण की बात होनी चाहिए। छोटानागपुर की नारियों का वर्तमान पर्यावरण के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहीं हैं। अब लोग अपने जंगल जमीन पर अधिकार की माँग कर रहे हैं। “जहाँ-जहाँ आदिवासी हैं, वहाँ भरपूर प्राकृतिक संसाधन मौजूद हैं। यूरेनियम हो या कोयला, माइका हो या लोहा, तांबा हो या मैंगनीज़- ये सब खासकर हिंदी क्षेत्रों में आदिवासी प्रधान राज्यों में ही पाए जाते हैं। चूंकि ये पहाड़ी या पठारी इलाके हैं वहाँ नदियाँ ही नहीं, ‘नद’ भी बहते हैं।”¹³

“झारखण्ड के जंगल आसन, भेलवा, मतासुर, चिरौंजी, केंयोंद, कुसुम, पलाश, आम, जामुन, इमली, बाँस, महुआ, बेर, आंवला, हर्रे, बहेड़ा, गम्हार, बेल, तेन्दुपत्ता व अन्य कीमती पेड़ों के लिए मशहूर हैं।”¹⁴ इतने समृद्ध जंगल के वासी गरीब हैं। उन्हें उनके घर से विस्थापित कर कब्ज़ा करके वहाँ से पैसे बनाया जा रहा है और जंगल के प्रवेश पर रोक लगा कर उन्हीं की सम्पत्ति (जंगल, कोयला) से कुछ लेने पर चोर बनाया जा रहा है। “Why the poorest people live on India’s richest lands?”¹⁵

भारत में कभी सूखा और अकाल की स्थिति नहीं आयी। इसका प्रमुख कारण जंगल पर जीते लोगों की निर्भरता रही है। अकाल ब्रिटिश शासन

की देन है। जंगलों के विनाश के कारण वर्षा में भी कमी आयी है। “जंगल ने कभी भी भूख से आदमी को मरने नहीं दिया। जंगल केवल संस्कृति का ही आधार नहीं हैं बल्कि मनुष्य के अस्तित्व का स्रोत भी हैं।”¹⁶ मनुष्य और जंगल का बहुत पुराना रिश्ता है। पर्यावरण को नुकसान पहुँचा कर विकास अधूरा है।

“बिर बानो दिसुम आले होड़ोको काले सुकुआ”¹⁷

(हम मुंडा लोग जंगल के बिना धरती पर सुकून महसूस नहीं करते हैं)

I UnHkz %

1. ‘बहुवचन’, जुलाई-सितम्बर 2011, सम्पादकीय- ए0 अरविंदाक्षन, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा।
2. वही
3. ‘हाशिये का वृत्तांत’ (सम्पादक-दीपक कुमार एवं देवेन्द्र चौबे), ‘आदिवासी अस्मिता के प्रश्न-रमणिका गुप्ता, आधार प्रकाशन प्रा0लि0, एस0सी0एफ0 267, सेक्टर-16, पंचकूला-134113 (हरियाणा), पृ0 357
4. वही, पृ0 356
5. ‘ताबेन जोम-वासवी’, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), पृ0 51
6. वही, पृ0 63
7. वही, पृ0 63
8. ‘ग्लोबल गाँव के देवता-रणेन्द्र’, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, पृ0 9
9. ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ-महुआ माजी’, विजयमोहन सिंह, राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली 110002
10. वही, पृ0 153
11. वही, पृ0 152
12. ‘ताबेन जोम-वासवी’, पृ0 45
13. ‘हाशिये का वृत्तांत’, पृ0 357
14. ‘ताबेन जोम-वासवी’, पृ0 45
15. ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ-महुआ माजी’, पृ0 364
16. ‘ताबेन जोम-वासवी’, पृ0 46
17. वही, पृ0 45

I edkyhu efgyk yf [kdkvka dh I 'tukRed fplru

jfo dckj xkm*

आधुनिक हिन्दी साहित्य में पिछले दो-तीन दशकों से स्त्री लेखन में ज्यादा उभार आया है। पिछले पन्द्रह वर्षों में कथा-साहित्य लेखन में महिला उपन्यास लेखिकाओं का जो ग्राफ उभर कर सामने आया है वह आज पुरुषों से कहीं बेहतर साबित हुआ है क्योंकि उनमें चाटुकारिता और पुरुषों के समान पुरस्कारों की भूख नहीं है। शायद यही कारण है कि महिला उपन्यास लेखिकाओं की रचनाओं में जीवन की कारुणिक महागाथा का बोध दिखाई पड़ता है।

“आज नारी अपनी स्थिति को समझने लगी है, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के आईने में झाँकते हुए उसने अपने जंग लगे प्राचीन कुछ अलंकारों को उतारा भी है। जनवादी साहित्य सरोवर में स्नान करके उसने अपने स्वयं पूर्ण सौंदर्य को निहारा है। अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए वह पुनः जागरूक, विद्रोही और क्रांतिकारी बन गई। आज की नारी, 21वीं सदी की ओर कदम बढ़ाती नारी अपने आप में एक स्वयं पूर्ण अस्तित्व है।”¹

समकालीन महिला उपन्यास लेखिकाओं में मुख्यतः दिनेश नंदिनी डालमिया, कृष्णा अग्निहोत्री, मन्नू भंडारी, अलका सरावगी, गीतांजलि श्री, रजनी गुप्त, मधु काकरिया, अनामिका, मैत्रेयी पुष्पा, पद्मा सचदेव, कुसुम अंसल, कौशल्या वैसंत्री, स्नेहमयी चौधरी, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, सुधा अरोड़ा, जया जादवानी और जयंती महुआ मांझी आदि लेखिकाएँ हैं। इन लोगों के उपन्यासों में स्त्री जीवन का संघर्ष, मिथकों को तोड़ने की प्रथा, समाज में अपनी उपस्थिति एवं भागीदारी का जद्दोजहद बखूबी दिखाई पड़ता है। यदि आज की औरत अपनी देह पर अपना अधिकार चाहती है, हर क्षेत्र में अपने बलबूते पर बुद्धिवादी क्षमता पर धाक जमाना

चाहती है, मर्दवादी ताकतों के एकत्र होने से पहले नारीवादी ताकतों को इस खतरे को समझ लेना जरूरी है।²

ममता कालिया का ‘वेखर’ उपन्यास एक संपूर्ण और सार्थक खुलेपन की खोज में प्रवृत्ति दिखाई देता है। ‘नरक दर नरक’ में ममता जी ने भारतीय समाज में विभिन्न, प्रांतीयता, वर्णों और जातियों में बँटे समाज की नरक को उकेरा है। मृदुला गर्ग की ‘चित्तकोबरा’ उपन्यास खुलेपन के लिए भी समाज में नई सोच को जन्म देती है। रानी सेठ की उपन्यास ‘तत्सम’ जो भारतीय समाज में एक विधवा युवती वसुधा के अपने ही समानधर्म के खोज की कहानी है। नासिरा शर्मा स्त्री की नियति को एक व्यापक फलक पर परिभाषित करती है। उनका पहला उपन्यास ‘सात नदियाँ : एक समुन्दर’ ईरान के आधुनिक इतिहास में सबसे तल्ख और खूनी दौर की पृष्ठभूमि में स्त्री के उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का आकलन प्रस्तुत करता है। प्रभा खेतान जैसे तो मरुस्थल की तरह फैले संवेदनहीन अमेरिकी समाज में भी मनुष्य से भिन्न कुत्ते-पेपे में संवेदनशीलता की तलाश करती है— ‘आओ पेपे घर चले’ में लेकिन उनका मुख्य रचना-क्षेत्र मारवाड़ी समाज की स्त्री का आत्म संघर्ष है। मैत्रेयी पुष्पा का ‘बेतवा बहती रही’ बुन्देलखण्ड की पृष्ठभूमि में बेतवा के कछारी क्षेत्र में, साधारण स्त्री के उत्पीड़न और यातना के सन्दर्भों को उद्घाटित करता है।

महिला उपन्यास लेखन में घर, परिवार ही नहीं बल्कि इसके साथ ही समाज का विस्तृत कैनवास भी प्रतिफलित है। मन्नू भंडारी का ‘महाभोज’, कृष्णासोबती का ‘जिन्दगी नामा’, कुर्रतुल ऐन हैदर का—‘आग का दरिया’, महाश्वेता देवी का ‘जंगल के दावेदार’, प्रभा खेतान का ‘छिन्न मस्ता’, नासिरा शर्मा का ‘जिन्दा मुहावरें’, चित्रा मुद्गल का ‘आँवा’ आदि रचनाएँ उदाहरण हैं। ‘डॉ० शशिकला त्रिपाठी जी ने’ कुछ इस प्रकार से टिप्पणी की है “हिन्दी में महिला-लेखन में साहस का अभाव नहीं है। तसलीमा नसरिन जैसा साहस भी दिखाई नहीं देता। दरअसल, स्त्री-मुक्ति की यात्रा अभी भी अधूरी है। सदियों की परम्पराओं, रूढ़ियों से उसे मुक्ति नहीं मिल सकी है।”³

हमारी भारतीय संस्कृति एवं समाज में पुरुषों का वर्चस्व रहा है। ‘पचपन खम्भे लाल दीवारें’ उपन्यास में ऊषा प्रियम्बदा जी ने परिवार की स्वार्थपरकता पर तथा एक कमारू बेटी सुषमा के अर्न्तमनोदशाओं की पीड़ा का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। किस प्रकार से सुषमा के सारे आंकाक्षी सुख परिवार के निजी स्वार्थता के प्रति बलिदान हो जाते हैं। वह हारकर प्रेमी नील से कहती है कि “मेरी जिंदगी खत्म हो चुकी है। मैं केवल साधन हूँ। मेरी भावना का कोई स्थान नहीं। मैंने अपने को ऐसी जिन्दगी के लिए ढाल लिया है।”⁴

* शोध छात्र, हिन्दी विभाग, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हिमांचल प्रदेश

मंजुल भगत द्वारा लिखित 'अनारों' उपन्यास की नायिका अनारों वैवाहिक जीवन का संताप भोगती है और प्रेम के चन्द क्षणों के लिए तरसती है। पत्नी का सर्वस्य उसका पति ही होता है। पति की उपेक्षा पत्नी के लिए असहनीय है कि अपने ही मन को अनारों खुद ही यह कहकर मनाती है कि 'रे गंजी के बाप, एक तू मेरा न हुआ, तो क्या जहान भी मेरा नहीं? अनारों को दुलारने वाले भी हैं।'⁵ महिला उपन्यास लेखन के बारे में मधुरेश जी लिखते हैं " समय ने इनके सोच का दायरा बढ़ाया है। नई नस्ल को खत्म करने की उनकी साजिश, कलम, कागज, आवाज और विचार को सलीब पर चढ़ाने की उनकी कोशिश औरों की तरह इनके दिलों में भी एक ताजी कब्र बनाती है।"⁶

महिला उपन्यास लेखिकाओं की नायिकाएँ जब अपनी पहचान के लिए संघर्ष करती हैं, परिवार और विवाह संस्था से विद्रोह करती हैं तो वे सिर्फ पुरुष वर्चस्ववाद से विद्रोह नहीं कर रही होती हैं। बल्कि परम्परा से चली आ रही उन तमाम गलित रूढ़ियों, मारवाड़ी धनिकों की कोठियों के भीतर की नारकीय गलाजतों, क्षुद्रताओं ऐयाशियों और उपनिवेशवादी कुंठाओं से भी संघर्ष करती हैं तो वहाँ भी वे आज के विश्व बाजार द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों और साम्राज्यवादी अभियान में संघर्ष करती हैं। पत्रकार गीता श्री जी समाज के लोगों से प्रश्न करती है। "जब स्त्री कलम उठाती है, पुरुष परेशानी में पड़ जाते हैं। उनका अहम घायल होता है और स्त्री की बराबरी से जीने और समान अवसर पाने की आकांक्षा में उन्हें हर तटस्थ समीक्षा में भी बगावत के स्वर सुनाई देते हैं। फलतः वह रिपेक्ट करते हैं। हिंसा पर उतारू हो जाते हैं। और एक तरह से बगावत को कुचलने वाली मुद्रा में आ जाते हैं। उन्हें आइना न पसंद है और वह अगर औरत दिखाए तो उनके विवके का बांध टूट जाता है।"⁷ मधु कांकरिया का उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' जैन समाज की युवा साध्वियों का जटिल वृतांत है। माँ के दबाव में छोटी बहन केश लुंचन कराकर साध्वी बन जाती है। पर बड़ी विद्रोह कर विवाह के बहाने गिरिस्तान हो जाती है। युवा उपन्यासकार महुआ मांझी का उपन्यास 'मै बोरिशाइल्ला' विभाजन का महा आख्यान का शंखनाद करती दिखाई देती है। वाङ्मय पत्रिका में लिखा गया है कि "सदियों से उत्पीड़ित, अपराधी मानी जाने वाली जन जातियों के शोषण को अंतहीन कथा और राजनीति में सक्रिय भागीदारी की स्वाभाविक महत्वाकांक्षा का माइक्रोस्कोपिक ब्यौरा जानना हो तो मैत्रेयी पुष्पा की 'अल्मा कबूतरी' पढ़ना पड़ेगा। बावरी मस्जिद विध्वंस की प्रतिक्रिया स्वरूप

इस्लामी देशों में अल्पसंख्यक हिन्दुओं पर ढाये जाने वाले जुल्मों का अति प्रमाणिक विवरण जानने के लिए तस्लीमा नसरीन का उपन्यास 'लज्जा' से बेहतर विकल्प दूसरा नहीं हो सकता।"⁸

आज भी स्त्री की आजादी की आकांक्षा के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा धर्मशास्त्रों के वह स्त्री विरोधी दृष्टिकोण हैं जो स्त्री को पुरुष से कमतर, दोगम दर्जे की स्थिति प्रदान करते हैं, कहीं दो औरतों की गवाही एक मर्द के बराबर मानी गई तो कहीं स्त्री को पुरुष को लुभाने, उसे गलत राह की ओर ले जाने वाली माना गया और कहीं साफ-साफ शब्दों में कह दिया गया कि स्त्री आजादी की हकदार नहीं।⁹ स्त्री के संदर्भ में यह कहावत बिल्कुल सटीक जान पड़ती है— "जलप्रपात को कोई भी बाँध बहुत समय तक रोक नहीं सकता, एक न एक दिन जलप्रपात बाँध को तोड़कर पूरे वेग से बहने लगता है, किनारे पर खड़े वृक्ष तकउसके आगे टिक नहीं पाते।"¹⁰

स्त्री विमर्श यह मानकर चलता है कि स्त्री-अधिकार एवं स्वरबोध के विपक्ष में खड़े होने के लिए जिम्मेदार पुरुष नहीं है, अपितु पितृसत्तात्मक सिद्धान्तों पर आधारित वह व्यवस्था है। लेखिका डॉ० फैमिदा बीजापुरे लिखती हैं कि— "पहले पहल तो महिला साहित्यकारों के विषय सीमित परिधि के अंदर अर्थात् सिर्फ महिलाओं की समस्याओं उनका शोषण आदि का चित्रण करने तक ही थे। परन्तु जैसे-जैसे स्त्री शिक्षा का प्रचार-प्रसार होता गया, वैसे-वैसे विषयों में विविधता आती चली गयी। उनके विषय सिर्फ स्त्री तक या घरेलू पर तक ही सीमित न रहकर समाज की अन्य समस्याओं की ओर भी गया और उन्होंने उनको भी अपनी साहित्य कृतियों में उतारा।"¹¹

मृणाल पाण्डे ने "अपनी गवाही" में स्त्री पत्रकार की ओर से सामाजिक यथार्थ की जटिलता का उद्घाटन किया है। पटरंग पुराण मृणाल पाण्डे जी का एक उत्कृष्ट रचना है जिसमें समाज के सामने कई प्रश्न खड़े कर दिये हैं। वे लिखती हैं कि "नारीवादी आन्दोलन की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि सारे शोर-शराबे के बीच स्त्री उत्पाद में ढल और बदल रही हैं।"¹² अलका सारावगी का नया उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' कॉरपोरेट समाज की आपाधापी में फँसे उच्चवर्गीय समाज के अन्तर्विरोधों की कथा है। "प्रौढ़ तथा अवकाश प्राप्त के०बी० शंकर अय्यर के पास जॉब के नए क्षेत्र मौजूद हैं। अब सरकारों से महत्वपूर्ण हैं, मल्टीनेशनल कंपनियाँ। यह वह भूमण्डलीकरण है जिसमें स्थानीयताएँ गुम हैं।"¹³

उपन्यास में वास्तविक जीवन का जो चित्र महिला लेखिकाओं ने उकेरा है वह व्यक्ति के बड़े ही नजदीक हैं जैसे कि नया ज्ञानोदय में लिखा गया है कि "साहित्य में स्त्री का वही रूप सामने आता है। जो संस्कृति और समाज द्वारा स्वीकृत किया हुआ होता है और फिर यही स्त्री का प्रकृत और प्रामाणिक स्वरूप बन जाता है"¹⁴ स्त्री को अपनी स्वतन्त्रता के सही मायने समझने होंगे केवल पाश्चात्य विचारों और कृत्यों का अनुकरण स्वतंत्रता नहीं हैं, असली स्वतंत्रता तब मिलेगी जब स्त्रियाँ अपने तर्क, चिंतन और व्यवहार से स्वयं को दोयम नहीं वरन् महत्वपूर्ण इकाई साबित कर सकेंगी, औरत को स्वतंत्रता के नाम पर केवल दैहिक या पहनावों की स्वतंत्रता की दरकार नहीं है, उसको स्वयं के हित में उसकी स्वतंत्रता को हासिल करना है।¹⁵ स्त्रियों को सबसे पहली अपने आपसे लड़ना है, फिर अपने संस्कारों से, अपने घर के परिवेश से, अपनी बिरादरी की विसंगतियों से आस-पास के प्रतिगामी मिजाज से और समाज के दोगलेपन से यह ऐसी लड़ाई नहीं कि आज शुरू हुई और एकाध महीने या साल भर में खत्म हो जाए, यह एक अनवरत प्रक्रिया है, इसे चलते ही रहना होगा। दूसरी लड़ाई उन्हें आर्थिक मोर्चे पर लड़नी होगी, जब तक स्त्री आर्थिक रूप से स्वावलम्बी नहीं होगी वह परजीवी होने का अभिशाप भोगने को अभिशप्त है तीसरी लड़ाई उसे अपनी अस्मिता की लड़नी है। यह वह तभी कर सकेंगी जब पहले की दो लड़ाईयाँ जीत ले। सबसे लड़ना आसान होता है, अपने संस्कारों और तज्जनि तस्वभाव से लड़ना सबसे दुष्कर है।¹⁶

उपर्युक्त सारे बातों पर विचार विमर्श करने के बाद यही लक्ष्य सामने उभरकर आता है। कि महिलाएँ स्वातंत्रयोत्तर पश्चात् हर दिशा में अपनी शाखाओं को मजबूत कर रही हैं। जब तक महिला उपन्यास लेखिकाएँ स्वयं अपनी लेखनी में प्रदत्त सामाजिक भूमिका के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं व्यक्त करेंगी तथा अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति सहनशील बनी रहेंगी, तब तक वे स्वतन्त्रता की अनुभूति नहीं कर सकेंगी तथा अत्याचार और शोषणों से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकेंगी। उनके लिए आवश्यक है कि घर के बाहर अपने कदम निकाले और आत्म निर्भर बनें। समकालीन कथा-साहित्य में महिला उपन्यास लेखिकाओं की उपस्थिति एवं भागीदारी से यह साबित होता है कि समाज में पनप रहे जटिल प्रश्नों के प्रति वे अत्यन्त संवेदनशील हैं। समय के साथ सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक, नैतिक एवं राजनीतिक महौल में आये बदलाव के इन महिला उपन्यास लेखिकाओं ने बड़ी बारीकी से पकड़ा है।

आज के समाज में महिलाओं की स्थिति सुदृढ़ता के चरमोत्कर्ष पर पहुँच रही है और भविष्य में भी उनकी यह उपस्थिति एवं भागीदारी देश के हित में बनी रहेगी। क्योंकि इनकी ताकत से समूचा विश्व भी हतप्रद है।

I UnHKZ %

1. तुमने उसे कब पहचाना, सुशीला टाकभौरे, पृ0 15
2. दलित साहित्य का स्त्रीवादी, विमल थोराट, पृ0 77
3. डॉ0 शशिकला त्रिपाठी : उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण : 2006, पृ0 13
4. पचपन खंभे लाल दीवारें : ऊषा प्रियंवदा, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1976 पृ0 61
5. अनारो : मंजुल भगत, पराग प्रकाशन दिल्ली, संस्करण-1977, पृ0 41
6. हिन्दी उपन्यास का विकास-मधुरेश सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण 2008, पृ0 226
7. पुनर्नवा, (सम्पादक) संजय गुप्ता, जागरण प्रकाशन लि0, नई दिल्ली, अंक-1, 2009, अर्द्धवार्षिक, पृ0 72
8. वांडमय (संपादक) डॉ0 एम0 फिरोज अहमद, त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका वर्ष: 4 अंक-14-15 जुलाई दिसम्बर 2007, पृ0 66
9. जनसंदेश टाइम्स, सितम्बर 2011
10. दलित साहित्य का स्त्रीवादी, विमल थोराट, पृ0 77
11. ममता कालिया: कृतित्व एवं व्यक्तित्व, डॉ0 फैमिदा बीजापुरे विनय प्रकाशन हंसपुर, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2004, पृ0 202।
12. पुनर्नवा-सं0 संजय गुप्ता, जागरण प्रकाशन लि0 नई दिल्ली अंक 1, 2009 अर्द्धवार्षिक, पृ0 73
13. पुनर्नवा-सं0 संजय गुप्ता, जागरण प्रकाशन लि0 नई दिल्ली अंक 1, 2009 अर्द्धवार्षिक, पृ0 73
14. नया ज्ञानोदय-सं0 रवीन्द्र कालिया 11 नवम्बर 2006, पृ0 13
15. जनसंदेश टाइम्स अक्टूबर 2011
16. जनसंदेश टाइम्स, सितम्बर 2011

ukxktu ds mi U; kl ka dh i kl fxdrk

f'k[kk ; kno*

किसी साहित्यिक कृति की प्रासंगिकता उसमें अन्तर्निहित उस संवेदना-दृष्टि से सम्बद्ध होती है जो आकार तो युगीत संदर्भों में लेती है, किन्तु उन संदर्भों का अतिक्रमण कर रचनात्मक तथा सामाजिक मूल्यों और सरोकारों के स्तर पर निरन्तर समकालीन बनी रहती है। हिन्दी साहित्य कोश में कहा गया है कि किसी विषय विशेष की जानकारी देने वाली सामग्री को संदर्भ सामग्री कहते हैं। इस सामग्री का उपयोग समस्या पठन-पाठन के लिए नहीं किया जाता। संदर्भ-साहित्य को पाठ्य-साहित्य सम्बन्धी विशेष सूचनाएं पाने के लिए देखा जाता है।¹ इस शास्त्रीय अर्थ के बावजूद प्रायः प्रासंगिकता के साथ संदर्भ को सम्बद्ध करने का चल पड़ा है। इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि नागार्जुन के उपन्यासों में संकलित संदर्भ हमारे बहुत काम के नहीं हैं। इसके विपरीत जिन प्रश्नों और समस्याओं को उन्होंने अपने उपन्यासों की वस्तु में ढाला या उनका जिस तरह समाधान प्रस्तुत किया, उसकी मूलभूमि तब की अपेक्षा आज अधिक प्रासंगिक है। क्योंकि वे प्रश्न आज अधिक विकराल रूप में हमारे सामने खड़े हैं, क्योंकि नागार्जुन के भविष्योन्मुखी संकेत इन प्रश्नों से संघर्ष के प्रमुख हथियार बन सकते हैं।

वस्तुतः किसी रचना की प्रासंगिकता का अर्थ होगा-उस रचना में निहित भाव वस्तु चिन्तन एवं नैतिक-सामाजिक मूल्य। इन बातों में एक निश्चित कालावधि एवं परिस्थिति के बदले जाने पर ऊपरी परिवर्तन अवश्य होगा और भाव ग्रहण की प्रक्रिया भी कुछ बदलेगी, पर आंतरिक रस अथवा भाव अपनी अविकल सत्ता बनाये ही रखेगा। नागार्जुन के उपन्यासों की अर्न्तवस्तु में जितनी युगीन संवेदनाएं हैं, उतनी ही भविष्योन्मुखी संभावनाएं भी हैं। इसलिए उनके 6 उपन्यासों की व्याख्या-पुनर्व्याख्या, मूल्यांकन- पुनर्मुल्यांकन और भाष्य-पुनर्भाष्य की प्रक्रिया निरन्तर जारी है।

बटेशरनाथ में एक बूढ़ा वटवृक्ष इसके मुख्य नायक की भूमिका का पार्ट अदा करता है। वटवृक्ष का मानवीकरण किया जाता है। अवश्य ही यह लोकचरित्र

को नवीन साहित्यिक संस्कार प्रदान करने का प्रयास है।² यह लोकचरित्र का साहित्यिक संस्कार कभी अप्रासंगिक नहीं होगा। इसकी तकनीक पुरानी हो सकती है किन्तु तकनीक के पीछे की साहित्यिक दृष्टि हमेशा नयी बनी रहेगी। समय में बहाव पर स्पष्ट नजर रखने के कारण ही नागार्जुन कह सके थे कि ऊँचे ओहदों पर होने से वे आम लोगों की निगाह में अपने घरवालों का रूतबा बिना किसी कोशिश के बढ़वा चुके थे। किस गरीब की जमीन बिकने वाली है, कौन निपूता कितनी जायदाद छोड़कर मरा है। नाबालिक लड़के वाली कि विधवा की क्या हैसियत है, शादी या श्राद्ध के मौके पर कौन-कौन लोग अदालती खर्च के लिए अपने खेतों को रेहन रखना चाहते हैं- इस प्रकार के तथ्यों की आवश्यक जानकारी के अतिरिक्त गांव की बाकी बातों से उन्हें जरा भी रस नहीं मिलता। ये प्रवृत्तियां उस समय विकसित हो रही थी, आज जवान हो गयी हैं। तंत्र और पूंजीवाद के गठजोड़ से इस कहानी का क्षेत्र और फैल गया है।³

नागार्जुन के सभी उपन्यासों में कोई न कोई समस्या उठायी गयी है और उनका कोई न कोई समाधान प्रस्तुत किया गया है। जिन उपन्यासों में समाधान स्पष्ट नहीं हैं, उनमें स्थितियों की विश्लेषण प्रक्रिया और परिघटनाओं की संयोजन-विधि में ही समाधान झलक जाते हैं। अपने समय की शल्य-क्रिया करते हुए नागार्जुन के उपन्यास इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्थानशीलता का संघर्ष निरन्तर गतिशील रहने वाली प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की विचारभूमि समाजवादी विचारधारा है जिसका स्रोत और सूत्र मार्क्सवाद में निहित है। डॉ० आशुतोष राय का कहना है कि नागार्जुन ने उपन्यासों का कैनवस ही गरीब, खेतहार, मजदूर और असहाय नारी के जीवन संघर्ष से उठाये हैं। अभावों, संत्रासों वेदनाओं और अत्याचारों की घातों से उभरी हुई चेतना, बलचनमा जैसे युवक को सिर पर कफन बाँधकर निकल पड़ने को मजबूर करती है। नागार्जुन का बलचनमा न भाग्यवादी है, न पलानवादी, वह शोषित समाज का अंग है, कहीं का आयतित नेता नहीं। गरीबी और मजबूरी को त्रासदी का यथार्थ चित्रण और भी उपन्यासकारों ने किया है तथा नारियों की समस्याओं को भी सहानुभूतिपूर्ण ढंग से उठाया है। प्रश्न यह है नागार्जुन उन उपन्यासकारों से किन अर्थों और रूपों में भिन्न है या उनके उपन्यासों में इन समस्याओं के साथ किये गये सुलूक कितने भिन्न है। नागार्जुन ने कथावस्तु की पृष्ठभूमियों का जो औपन्यासिक विश्लेषण किया है और उसका जो निष्कर्ष निकाला है, उसकी अर्थवत्ता पुरानी पड़ने वाली नहीं है और यही वह बिन्दु है। जहां नागार्जुन तमाम उपन्यासकारों की जमात से अलग दिखायी देते हैं और अपनी प्रकृति में प्रेमचन्द की यथार्थवादी औपन्यासिक परम्परा की विकास-प्रक्रिया में खड़े दिखायी देते हैं। उनकी प्रासंगिकता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है- विपरीत परिस्थितियों में पराजय बोध और आत्महीनता से मुक्ति। अत्याचार और षडयंत्र के विरुद्ध यह

* शोध छात्रा, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, उत्तर प्रदेश

स्वर कि बेशक मैं गरीब हूँ तेरे पास अपार सम्पदा है, कुल है, खानदान है, बाप-दादे का नाम है, अड़ोस-पड़ोस की पहचान है, जिलाज्वार में मान है और मेरे पास कुछ नहीं है, मगर आखिरी दम तक मैं तेरे खिलाफ डटा रहूँगा। अपनी सारी ताकत को तेरे विरोध में लगा दूँगा। माँ और बहन को जहर दे दूँगा लेकिन तू उन्हें अपनी रखैल बनाने का सपना कभी पूरा न कर सकेगा। कभी अप्रासंगिक न होगा क्योंकि यह प्रतिरोध का स्वर है और दुनिया का हर श्रेष्ठ साहित्य किसी न किसी प्रतिरोध की चेतना से ही लिखा गया है। यह चेतना बलचनमा की ही चेतना नहीं है, उसके वर्ग की चेतना है और उससे भी आगे सभी उपेक्षित, पीड़ित, वंचित और शोषित वर्ग की चेतना का प्रतिनिधित्व करती है।

नागार्जुन के उपन्यासों में मुख्य रूप से नारी की समानता ओर स्वतन्त्रता दलित-मुक्ति, किसान, मजदूर और जातिभेदी समस्याओं को उठाया गया है। समाधान के लिए उनके पास एक ही विकल्प है- मार्क्सवादी-समाजवादी विचारधारा का लोकतांत्रिक स्वरूप, इस विचारधारा का वे भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप कोई मॉडल पेश करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने परम्परा और प्रगति के अन्तर्सम्बन्धों को बाबा बटसेरनाथ में प्रस्तुत किया। नागार्जुन के उपन्यासों में नेताओं, जमींदारों, तस्करों, मठाधीशों और बिचौलियों की वास्तविकता का खुलासा ही नहीं है। सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्रों में फैले अवसरवाद और भ्रष्टाचार का भी अंकन है। चाटुकारिता से भरे साहित्य के क्षेत्र में स्थापित होने वाले कवियों-लेखकों और कमीशनखोरी के बलबूते में सही मायने में लेखने बल पर जीने वाले रचनाकारों की रायल्टी हजम कर अपने प्रकाशन को जगमगाने वाले प्रकाशकों की कलाई नगार्जुन ने खोलकर रख दी है। कुम्भीपाक के प्रकाशक का धन आते ही प्रकाशन उद्योग का चेहरा सकते में आ जाता है। हीरक जयन्ती के मृगांक और प्रचण्ड को सामने रखने पर सत्ता और सेटाश्रित रचनाकारों की असलियत सामने आ जाती है ये चित्रण समाज की वास्तविकता को प्रकट करते हैं।

I UnHkZ %

1. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य कोश, पृ० 790
2. रजनीकान्त जैन, प्रेमचन्द के औपन्यासिक कथानकों की प्रासंगिकता, पृ० 18
3. प्रकाशचन्द गुप्ता, कल्पना, मार्च, 1954, पृ० 62
4. नागार्जुन रचनावली-4, पृ० 354-355
5. डॉ० आशुतोष राय, नागार्जुन की गद्य-साहित्य, पृ० 155-156
6. बलचनमा, नागार्जुन, पृ० 86

Lora-rk ds lk' pkr ukjh dk i fRu : lk vkj fgluh mi U; kl

Jherh Hkkj rh*

स्वतंत्रयोत्तर युग में नारी की समस्या का रूप पूर्व स्वातंत्र्य युग की नारी से नितान्त भिन्न था इस समय में युगों से पति की दासता से पीड़ित नारी मुक्त होकर समाज तथा राष्ट्र में अपना स्वतंत्र अस्तित्व पाने के लिए आकुल रहने लगी थी। अतः संघर्ष तथा समस्या का बिन्दु पति की दासता से मुक्त होने का था।

प्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास कल्याणी से नारी के घर-बाहर की समस्या का अलग ही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कल्याणी एक ऐसी नारी हैं, जो इंग्लैण्ड जाकर डॉक्टरी की शिक्षा प्राप्त कर चुकी है तथा डॉक्टरी की प्रैक्टिस कर रही है। परन्तु इन सबके बाद भी उसके समक्ष प्रश्न उठता है कि उसके कारण उसका अशिक्षित पति जो डॉ. असरानी के नाम से जाना जाता है। वह चाहता है कि कल्याणी प्रैक्टिस करके उसके लिए धन कमाये कल्याणी के समक्ष प्रश्न खड़ा हो जाता है कि वह ग्रहणी बनकर रहे अथवा डॉक्टर बनकर। डॉ. असरानी आधुनिक भारतीय संस्कृति के संक्रान्तिकालीन मनःस्थिति के हैं जो एक और पत्नी से डॉक्टरी पेशा करने के लिए कहते हैं और दूसरी ओर कठोर पति धर्म के निर्वाह की आशा रखते हैं। वे नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व न स्वीकार करके उसे उपभोग की निर्जीव वस्तु समझते हैं। कल्याणी घर से गायब है। डॉ. असरानी को संदेह है कि डॉ. भटनागर ने उसे अपने घर में छिपा लिया है। वह डॉ. भटनागर से उलझता है मेरी स्त्री को तुम उड़ाकर ले आये हो लाओ, निकालकर दो।' इसीलिए उन्होंने समूचा घर देखा एक-एक कमरा और ट्रंक, देखे और बक्स देखे और बंधे बिस्तर खुलवाए।¹

इस कथन के माध्यम से लेखक ने संक्रान्तिकालीन मनः स्थिति के पुरुष वर्ग पर मार्मिक चोट की है जो आधुनिकता की लहर में चेतन मन से

* बी. एल. 56, दीनदयाल नगर, ग्वालियर, म०१०

कतिपय आधुनिक मान्यताओं को स्वीकार कर लेता है, लेकिन उसके संस्कारों में अभी तक परिवर्तन नहीं आया है।

नारी की जीवन यात्रा में पत्नी रूप सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं उपा देय है इस रूप के लिए अधिकांश युवतियाँ शिक्षा ग्रहण करती हैं। गृह कार्य सीखती हैं एवं सांसारिक आचार विचारों को समझने का प्रयास करती हैं। स्वातंत्रयोत्तर काल में पत्नी की स्थिति में पर्याप्त अंतर आया है जैसे तो प्रेमचन्द युग में ही आधुनिक नारी के दर्शन होने लगते हैं। उसी का विकसित रूप आज उपन्यासों में देखने को मिलता है। पहले शिक्षा का प्रसार कम होने के कारण पत्नी के रूप में पहुंचकर भी नवीन दृष्टिकोण का अभाव रहता था। आज नारी तेजी के साथ अधिक आत्मविश्वासी एवं अन्याय को दूर करने के लिए दृढ़ संकल्प है। आज हिन्दू कोड बिल के अनुसार तलाक की सुविधा होने से पति-पत्नी दोनों अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठा सकते हैं फलस्वरूप आज पत्नी न अपनी अपनी उपेक्षा सहन कर सकती है और न अत्याचार। लेकिन इन सबके बावजूद भी अभी ऐसी स्त्रियों की कमी नहीं है जो पति को परमेश्वर मानती है। उपन्यासों में दोनों प्रकार की नारियों के दर्शन होते हैं।

इलाचन्द्र जोशी कृत "सन्यासी" उपन्यास में जयन्ती अपने अधिकारों को पहचानती हुई कहती है। "आप चाहते है कि जिस स्त्री से आपका संबंध है वह पूर्ण रूप से आपकी होकर रहे।³ "अचल मेरा कोई" उपन्यास में कुन्ती का पति उसकी आजादी या व्यंग्य करता है। तो वह कहती है "आजादी मेरी कमाई है, तुम्हारी या किसी की दी हुई नहीं है।⁴ यह स्थिति यशपाल कृत "दादा कामरेड" उपन्यास की नायिका यशोदा की है। लेकिन रामेश्वर शुक्ल अंचल के उपन्यास "उल्का" की मंजु एक ऐसी पत्नी है जो एक बार संस्कारों से जकड़ी हुई एवं दूसरी ओर शिक्षा के आलोक में इस जकड़न को शिथिल करके स्वतंत्र व्यक्तित्व बनाना चाहती है। जब मंजु का पति उसे प्रो. प्रकाश से बातचीत करने से रोकता है। तो वह कहती है, मैं उन औरतों में नहीं हूँ जो अपने व्यक्तित्व का बलिदान करती घूमती है। जिनकी कोई मर्यादा और शील नहीं होती। मैं उनमें नहीं हूँ जिनका चरित्र अभी घूँघट के अंदर ही पनप रहा है और पुरुष की हवा लग जाने से ही खराब हो जाता है।⁵

आधुनिक पत्नियाँ समानाधिकारों के बल पर पुरुष मित्रों को भी रखने लगी हैं। जैनेन्द्र के विर्वत उपन्यास में मोहिनी का मित्र जितेन उसके पतिग्रह में आ जाता है। "मोहिनी मिथला नामक नर्स को जितेन का परिचय देती हुई कहती है ये उसके दोस्त हैं"।⁶

निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों में पतिपरायण और अत्यन्त सेवा करने वाली पत्नियों के भी दर्शन होते हैं। अरक के "बड़ी-बड़ी आँखें" उपन्यास की सावित्री हर प्रकार से अपने पति को खुश करने की कोशिश में लगी रहती है। मध्य वर्गीय समाज की सामान्य नारियाँ पति को खिलाकर ही स्वयं खाती हैं। इलाचन्द्र जोशी के मुक्तिपथ उपन्यास की सुनन्दा कंचन लता सब्बरमल के उपन्यास "त्रिवेणी" की विजया की माँ एवं गिरती दीवारों के चेतन की माँ ऐसी ही पत्नियाँ हैं। राजेन्द्र यादव के "प्रेत बोलते है" उपन्यास की प्रभा भी पत्नी है। वह अपने पति को देर से आने पर समझाती हुई कहती है "कम से कम यह तो सोचना चाहिए कि जरा से गुस्से के मारे हम तो नहीं खा रहें, लेकिन दूसरा आदमी तो भूखा बैठा होगा।"

स्पष्ट है कि स्वतंत्रयोत्तर हिन्दी उपन्यासों में पत्नि रूप में नारी चिन्तन को पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ है। नारी जीवन की इस प्रमुख समस्या का बोध कराते ये उपन्यास वर्तमान युग से भी संदर्भित हैं।

। nHkZ %

1. कुमार, जेनेन्द्र, कल्याणी, पृ0 29
2. वही, पृ0 29
3. जोशी, इलाचन्द्र, सन्यासी, पृ0 381
4. वर्मा, वृन्दावन लाल, अचल मेरा कोई, पृ0 208
5. शुक्ल, रामेश्वर, उल्का, पृ0 180
6. कुमार, जेनेन्द्र, विर्वत, पृ0 42
7. यादव, राजेन्द्र, प्रेत बोलते है, पृ0 184

Lkã nkf; drk , oa tkfrokñ ds | nñkz ea fujkyk dk x | fpñru

vatwfl gkj*

निराला के गद्य साहित्य से पता चलता है कि निराला ने जातिवाद तथा संप्रदायवाद के क्षेत्र में पर्याप्त लेखन किया है। वे स्वयं कर्म-सिद्धांत पर आधारित जाति-प्रथा का समर्थन करते हुए कहते हैं "हमारी जाति-प्रथा मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ श्रेणी विभाजन है, क्योंकि हर एक जाति में शास्त्र, नारायण का अंश बतलाते हैं। जाति की निंदा भी कहीं नहीं की गई। जाति निन्दनीय नहीं, इस समय उसके साथ, दूसरी जातियों का बर्ताव निन्दनीय है।"¹ किन्तु निराला जन्मजात जाति व्यवस्था का विरोध करते हैं। उस दौरान समाज में ऊँच-नीच की भावना का जोर था। जिसे निराला ने हिंदूओं के पतन का कारण माना "आज तक जिन्हें, वे जाति में अपने से छोटा समझते आये हैं, उनके प्रति वैस ही धृणा का बर्ताव करते रहते हैं। इसी के फलस्वरूप, दूसरी जातियाँ, क्षत्रिय और ब्राह्मण बनकर, पहले के ब्राह्मण और क्षत्रियों से बदला चुकाने पर तुल गयीं हैं, उनके मुकाबले सिर उठाकर चलने लगी है, जिससे सुधार के बदले, व्यापक रूप से कुसंस्कारों की ही जड़ मजबूत होती जा रही है।"²

निराला के मन में, कान्यकुब्जों के जातीय अहंभाव, ऊँच-नीच की भावना, तथा सामाजिक संकीर्णताओं के प्रति आक्रोश था। कान्यकुब्जों के तीन जातीय स्तर हैं— षटकुल, पंचादर, धाकर। धाकर, कान्यकुब्जों में सबसे नीचे स्तर के माने जाते हैं। निराला धाकर कान्यकुब्ज ही थे। कान्यकुब्ज समाज में, उनको निम्न जातीय स्तर की दृष्टि से देखा जाता था। इस कारण, उनके मन में, कान्यकुब्जों के विरुद्ध, जातीय विद्रोह भावना घर कर गई, जो आजीवन बनी रही।³ उन्होंने अपने कथा-साहित्य यथा- 'कमला', 'सुकुल की बीबी', 'श्रीमती गजानंद शास्त्रिणी' कहानियाँ, 'कुल्लीभाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' आदि

रेखाचित्र में यथा कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की संकीर्ण मनोवृत्तियों आदि दूषित सामाजिक परम्पराओं यथा दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, जाति बहिष्कार, नारी उत्पीड़न आदि की भर्त्सना की है। 'कुल्लीभाट' रेखाचित्र में कान्यकुब्जों की जातीय अहंमन्यता पर कटाक्ष करते हुए लिखा है — "अपने राम के लकड़दादा के लकड़दादा के लकड़दादा राजा वीरबल त्रिपाठी, अकबर के चले थे, उनकी बेटी खाले वाजपेयी के घर ब्याही, तबसे वाजपेयी वंश में भी महापुरुष का असर दें, यों ट्रिपल लकड़दादा का प्रभाव, कुल कनवजिया कुलीनों पर पड़ा।"⁴

निराला साम्प्रदायिक सद्भाव तथा मानव धर्म के पुजारी हैं। उनके यहाँ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी का भेद नहीं है। सभी जातियों एवं धर्मों में समाहित मानवीय तत्त्वों को सम्मान देते हैं। हिन्दू-मुस्लिम-एकता में बाधक, वे हिन्दू और मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता तथा हठवादिता को मानते हैं।⁵ कट्टरता का सम्बंध विचारों से कम, बाह्य आचारों से अधिक है। कट्टरता मनुष्य की सोचने-विचारने की शक्ति को नष्ट कर देती है। हिन्दू और मुसलमानों की संकीर्णताओं एवं कमजोरियों की जड़ में, उनकी धार्मिक भावनायें ही हैं।

हिन्दू और मुसलमानों दोनों में दार्शनिक स्तर पर साम्य है। दोनों ही अद्वैतवाद तथा विशिष्टाद्वैतवाद के समर्थक हैं। दोनों ही संसार को नश्वर मानते हैं तथा कयामत (प्रलय) में विश्वास करते हैं। हिन्दू और मुसलमानों के आचार-व्यवहार में, वेशभूषा में अन्तर होते हुए भी, दोनों का मानवता में विश्वास है।⁶ मुसलमान, जब भारत आये थे, उस समय अज्ञात कुलशील होने के कारण, उनके साथ, सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों में असहयोग उचित था, किन्तु अब ये इसी देश के निवासी हैं। अब असहयोग समाज तथा राष्ट्र के लिए हानिकारक है। अतः हिन्दू और मुसलमानों दोनों में विरोध भाव को दूर करने के लिए, दोनों की, दोनों के उत्कर्ष का पूर्ण ज्ञान कराया जावे। परम्पर के सामाजिक व्यवहार में दोनों ही सम्मिलित हों। दोनों एक-दूसरे की सभ्यता और संस्कृति को पढ़ें और सीखें। दोनों मानवता का पाठ पढ़ाया जाय, इससे एक-दूसरे के प्रति प्रेम तथा आदर भाव विकसित होगा।⁷ एकता के प्रथम सोपान में खान-पान का सम्बंध किया जावे। द्वितीय सोपान में वैवाहिक सम्बंध स्थापित किए जाय। तभी दोनों जातियों में आत्मिक मैत्री स्थापित हो सकती है। दोनों एक ही समाज के अभिन्न अंग बन सकते हैं।⁸ डॉ. रामविलास

*अतिथि विद्वान, शासकीय छत्रसाल महाविद्यालय, पिछोर, शिवपुरी, म0प्र0

शर्मा ने सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' को हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ करने वाला, बीसवीं सदी के साहित्य का सबसे बड़ा प्रतिनिधि बताया है।⁹

उक्त विवरण से निराला के गद्य साहित्य में विवेचित जातिवाद एवं संप्रदायवाद पर उनके चिंतन का संपूर्ण रूप तो नहीं किन्तु झलक अवश्य देखने को मिलती है जो शोधर्थियों के लिये उपयोगी है।

l nkHkZ %

1. चरखा/निराला रचनावली/छठा खण्ड/पृष्ठ 71
2. सामाजिक व्यवस्था/निराला रचनावली/छठा खण्ड/पृष्ठ 303
3. कुल्लीभाट/निराला रचनावली/चौथा खण्ड/पृष्ठ 21-22
4. मुसलमान और हिन्दुओं कवियों में विचार साम्य/निराला रचनावली/पाँचवा खण्ड/पृष्ठ 324
5. मुसलमान और हिन्दुओं कवियों में विचार साम्य/निराला रचनावली/पाँचवा खण्ड/पृष्ठ 335
6. मुसलमान और हिन्दुओं कवियों में विचार साम्य/निराला रचनावली/पाँचवा खण्ड/पृष्ठ 337
7. हमारे हिन्दू और मुसलमान/निराला रचनावली/छठा खण्ड/पृष्ठ 382-84
8. निराला की साहित्य साधना/द्वितीय खण्ड/ डॉ. रामविलास शर्मा/पृष्ठ 52

jkenj'k feJ dh l tũkRed l ðnuk dk Lo: i

i nek/kheku*

रामदरश मिश्र ग्रामीण पृष्ठभूमि से जुड़े साहित्यकार हैं। वे गाँव के परिवेश में आये परिवर्तन से परिचित हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व के गाँव और स्वतन्त्रता के पश्चात् तेजी से बदलते ग्रामीण परिवेश को उन्होंने बहुत निकट से देखा, परखा और अपने अनुभवों में जिया है। सन् 1948 के बाद गाँव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को बदलते समय ने बहुत गहराई से प्रभावित किया है। एक बहुत बड़े विरोधाभास की स्थिति से गुजरते हुए ग्रामीण जीवन की मानसिकता को मिश्र जी ने गहराई से परखा है। इस मानसिकता में परम्परा और आधुनिकता की टकराहटों की गूँज स्पष्ट रूप से सुनाई देती है। रामदरश मिश्र के कथा साहित्य के उन बुद्धिजीवी पात्रों में, जो आंतरिक स्तर पर अपने गाँव से जुड़े हैं लेकिन बाह्य स्तर पर आजीविका के लिए नगर या महानगर में रह रहे हैं, यह दबाव या ग्रामीण एवं नगरीय भावबोध का द्वन्द्व स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आया है। रामदरश मिश्र जी के महत्वपूर्ण उपन्यास 'अपने लोग' के मुख्य मात्र प्रमोद में ग्रामीण एवं नगरीय भावबोध का यह द्वन्द्व स्पष्ट रूप से लक्षित किय जा सकता है।

प्रमोद दिल्ली के एक कॉलेज में प्रध्यापक है। उसके पिता गोरखपुर के निकट एक गाँव में अपने भतीजों के साथ पुश्तैनी खेती संभालते हैं। वे प्रमोद के बार-बार गाँव लौटने की बात कहते हैं, जिससे उनकी मृत्यु के उपरान्त उनकी जमीन सुरक्षित रहे। वे कहते हैं, "तुम्हारे भाई लोग अभी तो ठीक हैं लेकिन मेरे न रहने के बाद क्या होगा। नहीं कह सकता। लोगों की नीयत बिगड़ते देर नहीं लगती और गाँव के लोग भाइयों को आपस में लड़ाने-भिड़ाने में बहुत तेज हैं। ऐसा न हो कि तुम दूर-दूर से जिस जायदाद को अपनी समझते रहो, वह गाँव वालों की नीयत से किसी और की हो जाये।" यहीं से प्रारम्भ होता है प्रमोद में ग्रामीण एवं नगरीय भावबोध का द्वन्द्व। एक

*शोध छात्रा, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, उ०उ०

ओर तो वह अपने बचपन के लिए हुए गाँव को अपने भीतर उमड़ता हुआ अनुभव करता है, तो दूसरी ओर शहर उसे अपनी ओर आकर्षित करता है। प्रमोद अनुभव करता है, "क्या उसे नहीं लगता है कि पद और पैसे की सारी सुविधाओं के रहते हुए भी कहीं उसका कुछ खो गया है जिसे वह अपने एकांत क्षणों में, सपनों में खोजता फिरता है।..... उसे लगता था कि वह उन सबसे बीच अतृप्त है, वह उस परिवेश में जाना चाहता है जहाँ की मिट्टी से वह बना है, जहाँ के खेत-खलिहान, नदी-नालों, बाग-बगीचों, मेलों, मौसमों का बचपन के साथ की तरह अपने अन्दर जिया है..... वह शायद भीतर-भीतर बहुत बदल गया है या उसका परिवेश ही बदल गया है। हाँ, परिवेश तो बहुत बदल गया है, लोग अब केवल लोग रह गये हैं, कुछ-कुछ खाली दूरियों के बाद उगे हुए पेड़ों से लोग..... उसे लगता है कि अब वह गाँव जाकर तृप्त नहीं होता, एक उदास अकेलापन उसे घेरे रहता है लेकिन अपने जाने-पहचाने खेत-खलिहान और रास्ते अब भी उससे लिपट जाते हैं..... और इतने दिनों तक शहरों में रहने के कारण वह भी बदल गया है। उसके भीतर गाँव और शहर की काटती रेखाओं का एक ऐसा चित्र बना है जिसे वह ठीक-ठीक पहचान नहीं पाता.....।²

गोरखपुर आने के बाद उसे प्रायः ही ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है जिनके कारण उसे गहरे तनाव और मानसिक द्वन्द्व का अनुभव होता है। जब-तब उसके जान-पहचान के गाँव-जवार के लोग उससे किसी न किसी बहाने पैसे उधार माँगने आ जाते हैं। प्रमोद का ग्रामीण संस्कार घर आये अतिथि का तिरस्कार नहीं कर पाता तो नगरीय प्रभाव उसे उन लोगों को टालने एवं झूठ बोलने के लिए विवश करता है। प्रमोद अपने मन में सोचता है, " गाँव के ये उस्ताद लोग उसके मुरौवती स्वभाव का ही फायदा उठाकर ही तंग करते हैं किन्तु जब कोई सामने चला आता है माँगने तो उसका सोचना काम नहीं कर पाता। गाँव-घर के आदमी क्या सोचेंगे? लेकिन अब उसने एक काम समझ लिया है कि जितना कोई माँगता है उतना न होने का बहाना बनाकर कम रुपये दे दो।"³

प्रमोद अपने ग्रामीण संस्कार के चलते 'अतिथि देवो भवः' का कर्तव्य निभाता है, लेकिन उसके परिवार के लोग जब तक उससे पैसों की माँग करने लगते हैं तो वह द्वन्द्वग्रस्त हो जाता है। प्रमोद का चचेरा भाई रमेश उससे पैसों की माँग करता है तो वह अपनी झल्लाहट छुपा नहीं पाता और अपनी पत्नी तथा बच्चों पर अपना गुस्सा निकालता है। प्रमोद सोचता

है, "उसकी इच्छा हो रही थी कि वे इस कमबख्त रमेश के बच्चों को डाँटकर भगा दे। पुरा खानदान लाकर यहाँ दवा के लिये छोड़ गया है और फिर बैल के लिए रुपया माँगने चला आया। आखिर छिटफुट माँगना तो चल ही रहा है। सबके हिस्से का खेत लिए बैठा है। यह तो कभी होगा नहीं कि एकाध बोरा दाल या गेहूँ वहाँ से भेज दे, यह भी नहीं होगा कि बच्चों के लिए कुछ फसली भूजा या सत्तू ही लेता।

रामदरश मिश्र ने गाँवों की पृष्ठभूमि पर आधारित आधुनिकता और परम्परा की टकराहट को पर्व-त्यौहारों आदि के अवसरों पर गम्भीरता के साथ चित्रित किया है। उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में नागपंचमी के त्यौहार के दिन सतीश, अनुभव करता है कि गाँव के लड़कों के चिक्का-कबड्डी खेलने का वह उत्साह नहीं रहा, जो उसके जमाने में था। पहले तो सयाने लोग भी इस अवसर पर जी खोलकर खेल में टूट पड़ते थे। जो नहीं खेल पाते थे, वे आकर दर्शक में बैठ जाते थे; किन्तु अब कुछ रंग ही और हो गया है। सतीश ने देखा-दीनदयाल के दरवाजे पर वे ही लोग जुटे हैं, जो बूढ़े हैं या जो गाँव के कामकाजियों में अधिक गिने जाते हैं, बाहर से आने वाले कमाऊ पूत, अंग्रेजी स्कूलों के विद्यार्थी, मास्टर लोग दिखाई नहीं पड़ते, कभी-कभी आते भी हैं तो लगता है कि खेलने वालों की भीड़ पर मेहरबानी करके दर्शन देने आते हैं। गाँव तथा तथाकथित 'शिक्षित वर्ग', जो शहरी आधुनिकता का आवरण ओढ़े हुए हैं, वे चाहते हुए भी उस लोक गीत-संगीत से नहीं जुड़ पाता। ऐसा भावबोध एवं स्थितियों में परिवर्तन के कारण होता है।

'सूखता हुआ तालाब' के जैराम मास्टर हर मौसम का आनन्द लेना चाहते हैं, कजली सुनना चाहते हैं लेकिन आधुनिक युग की आपाधापी ने उनकी सारी उमंगें छीन ली हैं। चेन्नैया का कजली का गीत सुनकर उन्हें लगता है, "ये घटाएँ, ये फसलें, ये हवाएँ, यह नदी-सभी कुछ तो हैं, लेकिन इनके साथ हमारे संबंध कहाँ रहें? हमारे भीतर-भीतर एक आग जग रही है, एक अनबुझ प्यास..... लेकिन लोग हैं जिन्हें कुछ व्यापता ही नहीं। नये लोग तो नये, जो लोग उनकी पीढ़ी के हैं या उससे पहले के हैं, वे लोग भी अब गीत की प्यास अनुभव नहीं करते। मौसम उनके लिए अन्न उगाने की मशीन से अधिक कुछ भी नहीं रहें। ग्रामीण एवं नगरीय भावबोध का द्वन्द्व शिक्षित वर्ग में अधिक तीव्रता से उभरता है।" इसी प्रकार 'बीस बरस' के वाचक अपने भतीजे मंजुल से उसके कार्य की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह अच्छा ही है कि अब लोग परम्पराओं के नाम पर हर सही-गलत बातें स्वीकार नहीं

करते। उनके इस कथन पर मंजुल कहता है, “यह साहस नहीं है, चाचा जी, स्वार्थ है। ये इंजीनियर साहब जी है न, परम्परा के मामले में बहुत कायर है। पूजा-पाठ करते हैं, साइत-वोइत देखकर यात्रा करते हैं, जोग-टोटका में विश्वास करते हैं, छुआछूत को खूब मानते हैं लेकिन सब अपने स्वार्थ के लिए। इसे पीछे उनका कोई नैतिक विश्वास नहीं है।” उन्होंने होली इसलिए उखाड़ कर फेंक दी कि उनका खेत न जल जाए। लेकिन यदि होली कहीं और गाड़ी तो जलने के समय वे हाथ जोड़े कर खड़े मिलेंगे।^१ मंजुल के इस कथन से नयी पीढ़ी के युवाओं की दृढ़ ग्रस्त मानसिकता का आभास मिलता है।

I nHkZ %

1. अपने लोग, पृ० 79
2. वही, पृ० 80
3. वही, पृ० 134
4. सूखता हुआ तालाब, पृ० 19
5. बीस बरस, पृ० 384

JhenHkxon~xhrc ea ; K dk ekgkRE; o.kL

v#.k dklr fl g*

श्रीमद्भगवद्गीता में अन्य परिपूर्ण ज्ञान के साथ-साथ हमें यज्ञ एवं उसके महात्म्य सम्बन्धी विविध वर्णन भलीभाँति प्राप्त हो जाते हैं।

गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं। जो यज्ञ निष्काम-भाव से किया जाता है, उसे 'सात्विक यज्ञ' कहते हैं।^१ जो यज्ञ सकाम अर्थात् फल-विशेष की इच्छा से किया जाता है, उसे 'राजसिक यज्ञ' कहते हैं।^२ जो यज्ञ शास्त्रों के विरुद्ध किया जाता है, उसे 'तामसिक यज्ञ' कहते हैं।^३ इनमें सात्विक यज्ञ का मुख्य उद्देश्य सात्विकता को लेकर ही होना चाहिये। शास्त्रों में सात्विक यज्ञ का विशेष महत्व लिखा है। सात्विक यज्ञ का विशेष महत्व होने का कारण यह है कि सात्विक यज्ञ निष्काम-भाव से किया जाता है।

मानव-जाति के जीवन का प्रारम्भ यज्ञ से ही होता है और उसके लिये यज्ञ बहुत ही महत्वपूर्ण है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण यज्ञ को मनुष्य के लिये 'इष्टकामधुक्' कहते हुए बतलाया है कि-

“सह्यशाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यच्चमेषचोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

देवान्मावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥”^४

अर्थात् प्रजापति ने यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न कर कहा कि इस यज्ञ के द्वारा ही तुम समृद्धिकों प्राप्त हो सकोगे और यह यज्ञ सभी के मनोरथों को पूर्ण करने वाला होगा। यज्ञ द्वारा तुम समस्त देवताओं को आप्यायन करो, जिससे देवगण भी फल प्रदान द्वारा तुम सबको आप्यायित करेंगे। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का आप्यायन-संवर्धन करते हुए परमश्रेय के भागी होंगे।

* शोध-छात्र, प्राचीन इतिहास, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, गजरौला, उ०प्र०

यज्ञपुरुष भगवान् ने यज्ञ के साथ मनुष्य को उत्पन्न कर जीवन-पर्यन्त यज्ञ से सम्बन्धित रहने की आज्ञा दी है। अतः मनुष्य का जीवन सर्वदा यज्ञमय होना चाहिए।

यज्ञ हिन्दू-जीविका का विशेष धर्म है और वह यज्ञ साक्षात् भगवान् का स्वरूप है। भगवान् का ही दूसरा नाम 'यज्ञ' है। यज्ञ में सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी भगवान् का निवास रहता है।

"तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।"⁵

अतः मनुष्य को यज्ञ में रहने वाले यज्ञस्वरूप भगवान् की सर्वदा उपासना करनी चाहिये।

गीता के कृष्ण का जीवन यज्ञमय था। उन्होंने अपना सारा जीवन यज्ञमय बिताया था। इसीलिये आज सारा संसार उन यज्ञ-पुरुष विष्णु भगवान् का पूजन करता है- 'यज्ञो वै विष्णु'⁶ गीता में यज्ञपुरुष की पूजा को बहुत ही महत्व दिया है। इसीलिये इसमें यज्ञ करने वालों को प्रशंसनीय एवं बुद्धिमान कहा गया है और यज्ञ न करने वालों को निन्दनीय और मूर्ख कहा है। गीता में उन लोगों की भी बहुत निन्दा की है जो यज्ञों के प्रति संकुचित भाव अथवा यज्ञ की निन्दा करते हैं।

गीता में भगवान् ने यज्ञ का महत्व अपने सदृश देते हुए उसकी प्रशंसा में कहा है-

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'

अर्थात् याज्ञिक कर्म के अतिरिक्त समस्त कर्म लोकबन्धनकारक है। और यह भी कहा है-

"गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थिचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रचिलीयते।।"⁷

अर्थात् आसक्तिरहित होकर यज्ञ करने से मनुष्यकृत समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है।

गीता में भगवान् ने यज्ञादि कर्म को अत्यन्त पवित्र बतलाया है-

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।'⁸

अर्थात् यज्ञ, दान और तप-ये तीनों मनुष्यों को पावन करते हैं।

भगवान् के बतलाये हुए त्रिविध कर्मों में से यज्ञ-कर्म को लोकैषणा, एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति आदि किसी प्रकार की स्वार्थ-भावना को लेकर नहीं करना चाहिये, किन्तु निःस्वार्थ भाव से विश्वकल्याणार्थ करना चाहिये। विश्वकल्याण

की भावना से होने वाला यज्ञ ही वास्तविक यज्ञ कहलाता है और वही यज्ञ सफल तथा कल्याणकारी होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है-

'यषोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते।'⁹

अर्थात् यज्ञ जनता-जनार्दन के कल्याणार्थ ही होता है।

गीता में 'भोक्तां यज्ञतपसाम्'¹⁰ कहकर भगवान् को यज्ञ और तपों का भोक्ता कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के लिये हुए यज्ञ, दान, तप आदि सभी शास्त्रविहित शुभ कर्म भगवान् में उस प्रकार पर्यवसित होते हैं जिस प्रकार गंगा आदि नदियों का जल समुद्र में जाकर स्थित होता है।

गीता के सोलहवें अध्याय में यज्ञ को 'दैवी-सम्पत्' कहा गया है। देवी-सम्पत्ति से परिपूर्ण होने के लिये यज्ञ की आराधना आवश्यक है। यज्ञ की आराधना से मनुष्य 'देवता' बन जाता है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त अर्जुन को विविध विषयों के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए 'यज्ञ' पर भी बड़ी उदार भावना से प्रकाश डाला है। भगवान् के जिन यज्ञों का वर्णन किया है, उन्हें गीता में 'महायज्ञ' कहा गया है। वे महायज्ञ गीता के चतुर्थ अध्याय में श्लोक 25 से 30 तक द्रव्ययज्ञ है। ये तपोयज्ञ और योगयज्ञ आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इनके अधिकार के विषय में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि 'यज्ञ अनन्त है और वे मानव मात्र के लिए हैं, उनका सभी को अधिकार है।'

गीता में 'सात्विक यज्ञ' का विशेष महत्व बतलाया गया है। इसीलिये प्राचीन काल के ऋषि-महर्षि विश्वकल्याणार्थ 'सात्विक यज्ञ' किया करते थे। निष्काम-भाव से होने वाले सात्विक यज्ञ का जो फल होना चाहिये वह फल प्रत्यक्ष रूप में भारतवासी अनुभव करते थे। परन्तु खेद है कि आज उस 'सात्विक यज्ञ' के बदले 'तामसिक यज्ञ' का व्यवहार होने लगा है। अतएव आज यज्ञों का वास्तविक फल नहीं प्राप्त हो रहा है।

शास्त्रों में के अशास्त्रीय विधिहीन यज्ञों की बड़ी निन्दा की गई है और उन्हें 'तामस-यज्ञ' कहा गया है। तामस यज्ञों के द्वारा देश, समाज और राष्ट्र का कदापि कल्याण नहीं हो सकता। तामस यज्ञों से प्रजा सर्वदा सभी प्रकार से पीड़ित रहती है।

कालिकापुराण में लिखा है-

"न यशः सम्प्रवर्तन्ते न तपस्यन्ति तापसाः।

आहारदुःखान्निश्रीकाः प्रजाः क्षीणा भयातुराः।।"¹²

अर्थात् इस समय प्रजा विविधपूर्वक न तो यज्ञ करती है और न तपस्वी तप ही करते हैं, इसलिये प्रजा भोजन की न्यूनता से और धन की कमी से भय और व्याकुलता को प्राप्त होती है।'

अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि श्रीमद् भगवद्गीता में यज्ञों का महात्म्य वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के यज्ञ बताए गये हैं, जिसमें सात्विक यज्ञों का विशद् ज्ञान मिलता है और उसे ही मोक्षदायी माना गया है। आज यज्ञों का हास हो रहा है, जो चिन्तनीय है। इन्हें विधिपूर्वक गीतोक्त ढंग से सम्पादित करना चाहिए और तामस-यज्ञों से बचने का प्रयास करना चाहिए।

I UnHkZ %

- 1 श्रीमद् भगवद्गीता, 17 / 11
- 2 श्रीमद् भगवद्गीता, 17 / 12
- 3 श्रीमद् भगवद्गीता, 17 / 13
- 4 श्रीमद् भगवद्गीता, 3 / 10-11
- 5 श्रीमद् भगवद्गीता, 3 / 15
- 6 ऐतरेय ब्राह्मण, 34 / 1
- 7 श्रीमद् भगवद्गीता, 4 / 23
- 8 श्रीमद् भगवद्गीता, 18 / 115
- 9 ऐतरेय ब्राह्मण, 2 / 1
- 10 श्रीमद् भगवद्गीता, 5 / 20
- 11 श्रीमद् भगवद्गीता, 3 / 16
- 12 कालिका पुराण, 20 / 19

chl oha 'krh ds l d'r i gl uka dk ofo/;
I fork vks>k*

प्राचीन काल से ही दृश्य विधा में प्रहसन साहित्य सबसे लचीला एवं परिवर्तन-प्रवण रहा है। इसी कारण आधुनिक संस्कृत साहित्य के प्रहसनों में परम्परा से हटकर शास्त्रीय ढाँचा अपने कुछ परिवर्तित रूप में प्रस्तुत हुआ है। इन प्रहसनों में हास के साथ-साथ व्यङ्ग्य का स्वर मुखरित हुआ है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में प्रहसन का लक्षण देते हुए कहा है—

‘भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्यांगाङ्कैर्विनिर्मितम् ।।

भवेत्प्रहसनं वृत्तं निद्यानां कविकल्पितम् ।

अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यंगानां स्थितिर्नवा ।।¹

प्रहसन के आधुनिक स्वरूप पर दृष्टि डालने से पूर्व इसकी प्राचीनता पर भी कतिपय दृष्टि आवश्यक होगी। विद्वानों के मतानुसार इसके शास्त्रीय रूप से पूर्व भी स्वतः ऋग्वेद में प्रहसन तथा भाण के प्राचीनतम रूप मिलते हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के विवरण में चाहे सोम की खरीद-फरोख्त हो या अन्य संवाद सूक्त हो— इनमें प्रहसन के बीज विद्यमान रहे हैं। वैदिककाल में जिस प्रहसन का बीजारोपण हुआ वह रामायण-महाभारत काल में पुष्पित-पल्लवित होता हुआ आधुनिक काल में भी एक परिष्कृत परम्परा को प्राप्त है। प्राचीनतम प्रहसनों की परम्परा में भी श्री बोधायन कृत ‘भगवदज्जुकीयम्’ (ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के आसपास) तथा महेन्द्र विक्रम वर्मा कृत मत्तविलास प्रहसन (सप्तम शती ई0) अत्यन्त लोकप्रिय रहे। बारहवीं शताब्दी का शंखधर कविराज द्वारा लिखित ‘लटकमेलक’ (धूर्तों का सम्मेलन) आदि इन सभी प्रहसनों में तत्कालीन सामाजिक धार्मिक स्थितियों को हास्य की चाशनी में डुबोते हुए दुर्व्यवस्था पर कटाक्ष किया गया है। प्रारम्भिक काल से लेकर 9७वीं-१८वीं शताब्दी तक प्रचुर मात्रा में पारम्परिक रचना हुई परन्तु १६वीं शताब्दी तक आते-आते प्रहसन का पारंपरिक रूप देश की परिवर्तित होती राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थिति से प्रभावित हुआ। इसी कारण पारम्परिकता के लीक से हटकर इस समय नयी शैली एवं नयी दृष्टि से प्रहसनों की रचना

*रीडर/विभागाध्यक्ष-संस्कृत, नेहरु ग्राम भारती विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उ0प्र0

होती रही। २०वीं शताब्दी के प्रहसनों की शृंखला भी लम्बी है जिनमें १९वीं शताब्दी की परम्परा का अवहान करते हुए, संस्कृत वाङ्मय में प्रहसनों की रचना अग्रसर हुई। भले ही इस सदी की रचनायें लीक से हटकर हों परन्तु ये अपने उद्देश्य से भटकी नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त का कथन—'अत्र निर्वचनं यतः परिहासः प्राधान्याभाषणन्यत्र बाहुल्येन भवन्ति।'² इन रचनाओं के मूल मन्त्र है। २०वीं शताब्दी के प्रहसनों पर विहंगम दृष्टि डालें तो श्री व्यासराज शास्त्री कृत 'लीलाविलासप्रहसन' (1935), प्रहसन के शास्त्रगत परम्परा से भिन्न सात अंकों में विभक्त है जो एक मध्यमवर्गीय भारतीय परिवार में कन्या के विवाह की समस्या को प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार यह प्रहसन अंकों में अपने शास्त्रीय—पारम्परिक स्वरूप से भिन्न है उसी प्रकार श्री राघवन कृत 'विमुक्ति प्रहसन'³ (1931ई०) प्रतीक नाटक का पुट लिये हुए है। डॉ० राघवन ने स्वयं इसे आध्यात्मिक प्रहसन कहा है।

सत्तर-दशक के बाद रचित प्रहसन परम्परा में यद्यपि प्रहसन का शास्त्रीय-पारम्परिक स्वरूप विलुप्त-प्राय हो चुका था परन्तु आधुनिक समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, कुरीतियों पर तीखा प्रहार हुआ है। इनमें अभिराज राजेन्द्र मिश्र कृत चार प्रहसनों का संकलन 'चतुष्पथीयम्', 'नाट्यनवरत्नम्' में 'मण्डूकप्रहसनम्', 'बधिरप्रहसनम्', प्रो० कौशलेन्द्र पाण्डेय कृत 'पिचण्डभाण्डप्रहसनम्', पं० राजकिशोर मणि त्रिपाठी कृत 'मूषकवैदूष्यम्' आदि कई प्रहसनों की रचना हुई। ये समाज के उन प्रत्येक वर्ग पर जो अपने कर्तव्य एवं नैतिक मूल्य से च्युत हैं, उन पर कटाक्ष, व्यंग्य करते हुए हास्य रस से युक्त होकर प्रस्तुत हुई हैं। आधुनिक लोक में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में मूल्य—क्षरण एक गम्भीर समस्या है जो हमारे सभ्यता एवं संस्कृति को घुन की तरह खाये जा रही है। इन स्थितियों को आधुनिक संस्कृत प्रहसन में बखूबी दर्शाया गया है। इन प्रहसनों के 'इतिवृत्त' पर विचार करें तो पाते हैं कि कहीं-कहीं तो कथ्यों में विशुद्ध हास है एवं अन्य अधिकतर प्रहसन के कथ्य हास-पुट लिए हुए समसामयिक स्थितियों पर आधारित हैं। उदाहरणस्वरूप अभिराज जी कृत 'मण्डूकप्रहसनम्', 'बधिरप्रहसनम्', 'मोदकं केन भक्षितम्' सरीखे प्रहसन विशुद्ध हास पर आधारित हैं। मण्डूकप्रहसन का कथासूत्र 'बृहदकथामञ्जरी' से संग्रहित है। यह हास की सृष्टि के साथ-साथ मनुष्य के भाग्य एवं दैवकृपा की स्थितियों का प्रकाशन करता है। लेखक ने स्वयं इसे स्वीकार किया है।⁴ 'बधिरप्रहसनम्' में पितामह (पात्र) द्वारा (बाधिर्य-दोष के कारण) शब्दसाम्य, अक्षरसाम्य तथा ध्वनिसाम्य से कुछ का कुछ सुन लेना श्रोता या प्रेक्षा को हँसने पर मजबूर कर देता है, उदाहरणस्वरूप 'रामनायक', 'कामसायक', 'समर्थक' को 'निरर्थक', 'वृद्धगृह'

को 'गृद्धगृह' जैसे शब्द हास्य का सृजन करते हैं।⁵ ये दोनों एक अंक युक्त हैं परन्तु 'मण्डूकप्रहसनम्' का एक अंक पाँच दृश्यों में विभाजित है।

बीसवीं शती के दूसरे प्रकार के प्रहसन जो समसामयिक स्थितियों, समस्याओं को केन्द्रित करके लिखे गये। इनमें हास है, तो समाज के उस वर्ग विशेष पर तीखा व्यंग्य प्रहार भी है जो लोक के प्रति कर्तव्यविमुख है। ऐसे प्रहसनों की बृहद् शृंखला है अतः कुछ प्रहसनों को ही दृष्टांत स्वरूप प्रस्तुत करना अपेक्षित होगा। चतुष्पथीयम्, पिचण्डभाण्डम्, मूषकवैदूष्यम् प्रभृत प्रहसन समकालीन समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार एवं कुरीतियों के वर्चस्व को उजागर कर मूल्यबोध कराने में सफल रहे हैं। आधुनिक काल में लोक भ्रष्टाचार, घोटाला, पाखण्ड से व्याप्त है। अतः इन प्रहसनों के ये सभी कथ्य बने। 'पिचण्डभाण्डम्' में बड़े रोचक ढंग से घोटाला के परिपोषक वर्ग द्वारा 'घोटालासूक्त' लेखक ने प्रस्तुत किया है—

अहं कार्यालये, न्यायालये, मन्त्रालये, यन्त्रालये
तन्त्रालये, देवालये, चिकित्सालये, विश्वविद्यालये
किं बहुना सर्वदा सर्वत्र सर्वालये, अहमेव भवामि.....
अधिवक्तारः न्यायकर्तारः न्यायदातारः न्यायगच्छीतारः
सर्व एव ते मदीयकृपया, वैभवशालिनः यशस्विनश्च भवन्ति।⁶

समकालीन युग में आतंकवाद, नक्सलवाद, जातिवाद आदि जैसी समस्यायें मनुष्य की प्रगति में बाधक सिद्ध हो रही हैं। ऐसे में देश का नेतृत्व करने वाले नेताओं पर बड़ा दायित्व है परन्तु ये उनका समाधान निकालने के बजाय उसे और हवा देते हैं। 'इन्द्रजालम्' में राजनेताओं के प्रति इस प्रकार कटाक्ष किया गया है—

...अयं जननेता बन्धुबान्धवस्नेहशीलाचाभेत्ता, मतपत्राणां क्रेता,
मानपदप्रतिष्ठाविक्रेता, समाचारपत्राङ्कितकोणवृत्तैकवेत्ता, राष्ट्रगौरवरज्जुच्छेत्ता,
आसन्दिकावधूपरिणेत्या च। अस्यैव कृपया दीनो देशः, पीनो मेषः, नवीन क्लेशः,
मलीनो वेषः, अजीर्णो निदेशश्च।⁷

इसी प्रकार 'मूषकवैदूष्यम्' में भी समकालिक नौकरशाही एवं शासकों द्वारा जनता के प्रति प्रयोजित हथकण्डों पर सीधा प्रहार करते हुए कहा गया है—
...धृतं राष्ट्रम् अनेन इति व्युत्पत्त्या शासनाध्यक्षः धृतराष्ट्रपदेन उच्यते। सः अकर्मण्यः
स्वार्थदृष्ट्या गृधनेत्रोऽपि सन् परार्थतः अन्धो भवति। अस्य शताधिकाः अविनीताः
सहायकाः भवन्ति।⁸ ये राजनेता जनता के श्रम एवं धन का हरण कर किसप्रकार से भक्षक बने हुए हैं इसे प्रस्तुत करते हुए कहा गया है— '...अयं स्वशासितेषु
वैमत्यम् उत्पाद्य विभिन्नानाम्ना तेषां धनग्रहणं श्रमग्रहणं वा करोति।⁹

लोक में चिकित्सक का पद अति सम्मानजनक है परन्तु इस कलिकाल में ये भी मूल्यों से च्युत हैं। 'मूषकवैदूष्यम्' में प्रहेलिका के माध्यम से आधुनिक चिकित्सक का परिचय हास्य-व्यंग्य मिश्रित रूप में इस प्रकार प्रस्तुत हुआ है— 'प्रणम्यो जगत्यां क आत्मीयबुद्ध्या समं चायुषा कोऽस्ति वित्तस्य हर्ता।

दुतं कस्य चित्तं क्वचिन्नार्तनादैः अयं डाक्टरः कोऽपि नान्यो मनुष्यः।।¹⁰

वर्तमानकालिक चिकित्सकों की धनलोलुपता को 'पिचण्डभाण्डम्' में भी दर्शाते हुए कहा गया है कि ये रूग्ण को स्वस्थ-लाभ न देकर साक्षात् यमपुरी का पाथेय बनाने वाले हैं।¹¹

एक शिक्षक, जिसपर समाज को शिक्षित एवं सुयोग्य नागरिक देने का दायित्व होता है वह स्वयं नैतिक मूल्यों से परे सरस्वती का उपासक न होकर लक्ष्मी का अनन्य उपासक बना हुआ है। मूषकवैदूष्यम्, इन्द्रजालम् में भ्रष्ट शिक्षक का साक्षात् चित्रण हुआ है।¹² केवल शिक्षा या राजनैतिक जगत ही नहीं बल्कि समाज के अन्य शिक्षित पुरोधा वर्ग यथा- अभियन्ता, अधिवक्ता आदि भी धन लोलुपता एवं सुख-संसाधनों के संचय में लिप्त हो कर नैतिक पतन की ओर अग्रसर है। इसे प्रहसन के माध्यम से बखूबी दर्शाया गया है- ...वर्षजीविनः षण्मासजीविनो वा एतन्निर्मिताः सेतुबन्धाः। अयं सीमन्तचूर्णं समधिकसिकतां मेलयति। चतुस्सूत्रायोदण्डस्थाने त्रिसूत्रायोदण्डान् प्रयुनक्ति। ...आसीदयं ह्य एव सर्वविधदरिद्रः किन्तु सम्प्रति वर्तते धनधान्यसमृद्धो लक्षपतिः।¹³ यहाँ आधुनिक अभियन्ता की स्थिति स्पष्ट हो रही है वहीं अधिवक्ता की प्रकृति को भी हास-प्रवण शब्दों में इस प्रकार पिरोया गया है- 'मृषाजीवी जनोऽयं। ...असत्यं खादति। असत्यं पिबति। असत्यं संस्तरति। ...किमधिकं गुरो! असत्यमेवास्य माता पिता जीवनधर्मश्च। वाक्कीलोऽयं। कचहरीकीटाणुरयम्।'¹⁴

इसी प्रकार आधुनिक जगत में अत्यधिक पुष्पित-पल्लवित अपराधिक तंत्र से सम्बन्धित पुलिस, न्यायाधीश, मीडिया तंत्र, जो कि अपराध के उपशमन में अहम् भूमिका निभा सकते हैं परन्तु इनके पदच्युत होने की घटना का आम होना इन प्रहसनों का विषय बना। आधुनिक काल में लोक ने जिसे अपना सबसे हितैषी समझा वह मीडिया तंत्र ही था परन्तु जैसे-जैसे यह शक्तिशाली होता गया भूमिका पर बड़ा ही सुन्दर व्यंग्य प्रस्तुत हुआ है- न जानाति भावं विधाता कदाचित् कदा लेखनी कस्य तुष्ट्याऽवतुष्ट्यै।

प्रवृत्ता भवेदस्य सिद्धान्तहीना वचोभिर्जनान् भ्रामयन् पत्रकारः।।¹⁵

सामाजिक मूल्यों के ह्रास में पारिवारिक मूल्य भी हेतु हैं। 'चतुष्पथीयम्' संकलित 'निर्गृहघट्टम्', 'वैधेयविक्रमम्' इन्ही तथ्यों का प्रकाशन हुआ है। 'निर्गृहघट्टम्' में ए०जी० ऑफिस के एक क्लर्क के जीवन भोग को प्रस्तुत

किया गया है जो घर में पत्नी के होते हुए कार्यालय में स्टेनो की मैत्री एवं सहानुभूति से सुकून पाता है तथा स्वयं को 'निर्गृहघट्ट' कहता है।¹⁶ इन प्रहसनों में केवल वर्ग-विशेष पर हास्य-व्यंग्य, कटाक्ष हो ऐसी बात नहीं बल्कि आधुनिक लोक की जनता जो एक ओर तो भ्रष्टाचार की निन्दा करती है वहीं दूसरी ओर स्वयं ही भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाती है, इस स्थिति को भी यहाँ इन पदों में अभिव्यक्ति मिली है- अजगर इव भाग्याद् भोजनेबद्धनिष्ठ / स्फुटमपि निजलाभं वीक्षितुं वासरान्धः। शुनक इव निदेशं पालयन् शासकीयं / यदि भवति जनश्चेत् सैव वृद्धिर्हिः।।¹⁷

इन प्रहसनों में समस्याओं, विकृतियों को ही उजागर किया गया हो ऐसा नहीं है बल्कि इनमें नैतिक मूल्याश्रित स्वस्थ समाज की स्थापना का स्वर मुखरित हुआ है। यह नाट्य के उद्देश्य के अनुरूप है क्योंकि नाट्य को लोक के लिए हितकारी और उपदेशजन्य कहा गया है।¹⁸ इन प्रहसनों में कहीं राष्ट्र-कल्याण की भावना व्यक्त हुई है तो कहीं चाणक्य-नीति तथा पाणिनि के ज्ञान की जय करते हुए दुवृत्ति न होने की कामना की गयी है।¹⁹

इस प्रकार आधुनिक प्रहसनों की श्रृंखला में बीसवीं शताब्दी के ये प्रहसन लोक में स्थित दूषित पक्षों पर हास्य-व्यंग्य के माध्यम से तीक्ष्ण प्रहार करते हैं। यही नहीं ये समाज में सुधार की सम्भावना के मार्ग को भी प्रशस्त करते हैं। ये भले ही अपने शास्त्रीयस्वरूप के परिवर्तित रूप में हों परन्तु अपने उद्देश्य का संवहन करते हुए प्रेक्षा को उत्कर्षाधायक सोच की ओर प्रवृत्त करते हैं। सामाजिक यथार्थ और व्यङ्ग्य की चेतना से युक्त होने के कारण ये प्रहसन प्राणवान् अनुभूत होते हैं। इनमें आधुनिक बोल-चाल की भाषा यथा- घोटाला, वकील, डॉक्टर, आदि अनेक प्रयुक्त शब्द पाठक, श्रोता या प्रेक्षा को आकृष्ट करते हैं। इन प्रहसनों के माध्यम से नष्ट होती सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक मान्यतायें प्रस्तुत होकर लोक का पथ-प्रदर्शन करती हैं।

I Unkz %

1. संस्कृत-हिन्दी कोश
2. ना०षा०/अभिनव टीका सहित/भाग ३ पृ०सं०10
3. नाट्यम्/ पृ०सं०29
4. इस कथा के एकांकीकरण का मूल उद्देश्य है मनुष्य के भाग्य एवं देवकृपा का समन्वित साफल्य-प्रकाशन। (नाट्यनवरत्नम्/ मण्डूकप्रहसनम्/ पृ०सं०99)

5. 1. पितामही— (सक्रोधम्) ...पुत्रपौत्राणां विशालपत्तनां सष्ट्वाऽपि कामसायकम् प्रतीक्षसे? अरे, रामनायकः समागतो रामनायकः।
(ना०नव०/बधिरप्रहसनम्/पृ०सं०५५)
2. त्रिलोचनः — पितामहोऽपि बी०जे०पी० समर्थक इत्यहं मन्ये।
पितामहः — ...धत्तूरपुष्पमिव स्वमुखमुद्घाटितम्? मां निरर्थकं कथयसि?
(वही पृ०सं०५७)
6. पिचण्डभाण्डम्/पृ०सं०३०
7. चतुष्पथीयम्/इन्द्रजालम्/पृ०सं०३३
8. मूषकवैदूष्यम्/दृक् 10/पृ०सं०९३
9. वही
10. वही/पृ०सं० 98
11. पि० भा०/पृ०सं० ४४
12. 1. मं महत्त्वं विदुषां हन्ति इति महा , जं जडतां छात्रेषु नयति इति जनः, महांश्चासौ जनश्च महाजनः। (मू०वै०/दृक१०/पृ०सं० 99)
2. ...विविधमूल्यमितोऽस्य महार्धोऽङ्कः। परीक्षासरित्समुत्तरणमात्राय शतरूप्यकाणि, द्वितीय श्रेण्यर्थं पंचशतरूप्यकाणि, प्रथमश्रेण्यर्थं सहस्ररूप्यकाणि, प्रवक्तृपदप्राप्त्यर्थं च पञ्चसहस्ररूप्यकाणि स्वीक्रियन्तेऽनेन विद्यामन्दिरदेवतेन। (चतु०/इन्द्र०/पृ०सं० 38)
13. चतु०/इन्द्र०/पृ०सं०३३९
14. वही/पृ०सं० 37
15. मू०वै०/दृक१०/पृ०सं० 97
16. ...गृहे पत्नी वैरिणी। घट्टे चायं दानवोऽधीक्षको वैरी। उभयत्रापि अशरणोऽस्मि। रजकसारमेयो न गृहस्य न वा घट्टस्य। सत्यमेव निर्गृहघट्टोऽस्मि संजातः। (चतु०/निर्गृ०/पृ०सं० 58)
17. मूषक०/दृ०/पृ०सं० 94
18. धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविर्धनम्।
लेकोपदेशजननं नाट्यमेद्वविष्यति।। (ना०षा०९/११७)
19. 1. तेजस्विनो युवानः भगवन्! भवन्तु राष्ट्रे
नेतार ऐहिकास्ते सुमनस्विनः लसन्तु।
नन्दन्तु सर्वलोकः पशवश्च कर्मवीराः
धर्मश्च सत्ययुक्तः किल मङ्गलाय वः स्यात्।।(पिच०/पृ०सं० ४८)
2. चाणक्य नयो ध्रुवं विजयतां ज्ञानं भवेत् पाणिनेः
वृत्तिर्माऽस्तु च भारते क्वचिदपि श्वानाखुवालेयगा।।(मूष०/दृक्/पृ०सं०/९८)

I ân; dk I k/kj .khdj .k %
eeRokfn I s efDr

I hek fl g*

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यास्वाद के लिए पाठक का भी साधारणीकरण आवश्यक माना गया है। साधारणीकरण—व्यापार के द्वारा जिस प्रकार काव्य—वस्तु असाधारण से साधारण होती है, उसी प्रकार पाठक भी अपनी असाधारणता अथवा विशेषता का परित्याग करके साधारण रूप ग्रहण करता है। इस साधारण्य से युक्त होने पर ही सामान्य पाठक 'सहृदय' की संज्ञा प्राप्त करता है। हृदय तो सामान्य पाठक के भी होता है, किन्तु काव्य के संदर्भ में जब किसी व्यक्ति को सहृदय कहा जाता है तो वहाँ 'हृदय' का विशेष अर्थ होता है। 'सहृदय' जिस हृदय से युक्त होता है वह केवल लौकिक चित्तवृत्तियों का कोश नहीं, बल्कि काव्योपम भावों का भण्डार है। इस विशेष प्रकार के हृदय का निर्माण निरंतर काव्यानुशीलन के सुदीर्घ अभ्यास द्वारा होता है। काव्यों के निरंतर अनुशीलन से जब हृदय दर्पण के समान निर्मल और विशद हो जाता है, तभी उसमें किसी काव्य के आस्वाद की योग्यता उत्पन्न होती है। ऐसे निर्मल हृदय से युक्त व्यक्ति को कोई 'सवासन' कहता है, कोई 'सुमनस्' कोई 'रसिक' तो कोई 'सहृदय'। वस्तुतः हृदय की यह निर्मलता साधारण्य का ही दूसरा नाम है और इसे सहृदयगत साधारणीकरण—व्यापार का ही परिणाम समझना चाहिए।

जिस प्रकार देश, काल एवं व्यक्ति संबंधों से मुक्त होकर काव्य के विभावादि 'साधारण' होते हैं, उसी प्रकार सहृदय का साधारण्य भी देश काल व्यक्ति विषयक संबंधों से मुक्ति पर निर्भर है। भट्टनायक के अनुसार काव्य का पाठक 'निज मोह संकटता निवारण' के द्वारा साधारण होता है। दूसरे शब्दों में प्रमाता की चेतना मोह के आवरण को हटाकर साधारणता का रूप प्राप्त करती है। भट्टनायक के मत का संशोधन परिवर्धन करते हुए अभिनवगुप्त ने 'निज मोह संकटता निवारण' को और भी स्पष्ट रूप में देखा है। उनके अनुसार

* एम०ए० (हिन्दी), नेट, ग्राम—आहोपुर, सिंगरामऊ, जौनपुर, उ०प्र०

निजी सुख दुखादि से ग्रस्त होना ही मोह है। किसी नाटक को देखते समय अथवा काव्य को पढ़ते समय यदि पाठक अपने सुख से विवश होता है तो समुचित ढंग से काव्यास्वाद नहीं कर सकता है। इसी प्रकार अपने दुख से दुखी रहने पर भी पाठक के लिए काव्यास्वाद में कठिनाई होती है इसलिए अभिनवगुप्त ने काव्यास्वाद के लिए 'दुख सुखादिकृताहानादिबुद्धि को आवश्यक बतलाया है। वस्तुतः निजी दुख सुख देशकालव्यक्ति संबंधों से युक्त चेतना का परिणाम है। कोई व्यक्ति जब तक देश काल और व्यक्ति संबंधों से बँधकर किसी विषय का अनुभव करता है तब उसमें निजी दुख सुख के विकारों का होना अनिवार्य है। इसलिए इस संबंधों से ऊपर उठकर ही कोई व्यक्ति निजी सुख दुख से मुक्त हो सकता है। यहाँ भी सामान्यतः देश एवं काल की सीमा को तोड़ना अपेक्षाकृत सरल होता है; कठिन होती है तो व्यक्ति संबंधों से मुक्ति। इसलिए इस संबंध में अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के लिए 'स्व' 'पर' आदि संबंधों से मुक्त होने का विधान किया है। काव्यगत विभावादि के विषय में सहृदय जब अपने पराये शत्रु मित्र मध्यस्थ आदि समस्त संबंधों का परित्याग कर देता है तभी उसे काव्य का समुचित आनन्द प्राप्त होता है। इन संबंधों के कारण पाठक विशेष अथवा असाधारण रहता है। इन संबंधों से मुक्त होकर पाठक साधारण हो जाता है।

इसी धारणा का अत्यंत स्पष्ट और परिनिष्ठत रूप में व्याख्यान करते हुए मम्मट ने स्पष्ट किया कि रसास्वादन के लिए प्रमाता की व्यक्ति संबंधों से मुक्ति भी उतनी ही अनिवार्य है, जितनी विषय की देशकालादि बंधनों से। लौकिक विषयों की भाँति काव्यगत अर्थों में संबंध विषय के स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नहीं रहती, अतएव उनकी प्रतीति साधारण्य से होती है—ऐसा मम्मट का मत है। अर्थात् विषय के प्रति शत्रु मित्र या तटस्थ भावना प्रमाता के मन में नहीं रहती।

यहाँ प्रश्न उठता है। जब मम्मट कहते हैं। ये मेरे ही हैं शत्रु के ही हैं तटस्थ के ही हैं, तो उनका आशय उपयुक्त व्यक्ति संबंधों से मुक्ति है, या इस संबंध भावना मात्र से मुक्ति है? साधारणीकरण की यह व्याख्या आपाततः निषेध गाम्क प्रतीत होती है। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि मम्मट ने जहाँ इस संबंध की स्वीकृति का निषेध किया है, वहाँ परिहार का भी। अर्थात् वे इन संबंधों की अतिशयता का विरोध करते हैं, संबंध भावना मात्र का नहीं। परवर्ती विद्वानों ने मम्मट के इस कथन की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि साधारणीकरण व्यापार में व्यक्ति संबंधों से मुक्ति का अर्थ उनका पूर्णतः निषेध या परिहार नहीं

है बल्कि व्यक्ति संबंधों की सीमा का परिहार है इस संबंध में शिंगभूपाल का कथन है कि साधारणीकरणाम्ना भावनाव्यापारेण स्वसम्बन्धितया भावितानाम्..... । अर्थात् साधारणीकरण व्यापार और भावना व्यापार अभिन्न है तथा इसके द्वारा साधारणीकृत पदार्थ ग्राहक से संबंध रूप में प्रतीत होते हैं।

यह मान लेने पर कि साधारणीकरण में मित्र शत्रु तथा तटस्थ तीनों प्रतीतियाँ नहीं होती, रस प्रतीति के निमित्त विभावादि का संबंध किस रूप में स्थिर किया जाएगा? इस समस्या का विध्यात्मक उत्तर देने का प्रयास काव्य प्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने किया है।

साधारण्य द्वारा जो प्रतीति होती है, वह सर्व संबंधिता की प्रतीति नहीं है बल्कि संबंधी विशेषीयत्व की अप्रतीति है। वह अमुख की ही प्रतीति नहीं है प्रत्युत अमुक की प्रतीति है। तात्पर्य यह है कि साधारणीकरण में संबंध भावना का सर्वथा निषेध नहीं हो जाता ग्राहक के चित्त में कुछ न कुछ संबंध भावना अवशिष्ट रह जाती है। यदि संबंध भावना न हो तो काव्यनिष्ठ वस्तु से ग्राहक नितान्त असंपृक्त रह जाएगा और उस स्थिति में ग्राहक के चित्त में किसी प्रकार की अनुभूति का उद्रेक असंभव होगा।

अभिनवगुप्त ने भी साधारणीकरण का अर्थ विभावादि के देशकालादि संबंधों से मुक्ति के साथ सहृदय की प्रतीति का वीतविघ्न को जाना माना है। निर्विघ्न प्रतीति से उनका आशय था— मैं 'पर; आदि की भावना से उत्पन्न सुख दुखकारी प्रत्ययों से मुक्त स्थायी भाव का अस्वाद।

वस्तुतः रसास्वाद साक्षात्कारात्मक अनुभूति है। उसके लिए एक ओर चित्त की एकाग्रता अनिवार्य है और दूसरी ओर निर्विघ्नता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के अहं का किसी भी रूप में हस्तक्षेप काव्यानुभूति का सबसे बड़ा विघ्न है।

अपने दैनन्दिन जीवन में विषयों के प्रति व्यक्तिगत संसर्ग के कारण व्यवहार में हम अपने व्यक्तिगत अहं का अतिक्रमण नहीं कर पाते। रसानुभूति में अनुभूति का केन्द्र अहं से काव्यकृति में स्थानान्तरित हो जाता है और हमारी प्रतिक्रिया अधिवैयक्तिक हो जाती है। काव्यकृति क्योंकि सामूहिक रूप से अनुभूयमान मानवीय अनुभवों का वस्तुगत रूप है, इसलिए उसके प्रति पाठक की प्रतिक्रिया अधिवैयक्तिक स्तर पर होती है। परन्तु अधिवैयक्तिकता का अर्थ काव्य संदर्भ में तटस्थ नहीं होता। इससे ठीक भिन्न प्रमाता काव्यास्वाद की स्थिति में काव्य में सक्रिय भाग लेता है। इसी को अभिनवगुप्त ने 'अनुप्रवेश' कहा है और अनुप्रवेश संबंध भावना के नितान्त अभाव की स्थिति में असंभव

होगा। अतः पाठक काव्यकृति से तटस्थ की अनुभूति न कर उसके साथ तादात्म्य की अनुभूति करता है जिसे अभिनवगुप्त ने तन्मयीभवन कहा है।

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने रंगशाला में प्रवेश करने से पूर्व भी प्रेक्षक की साधारणता का उल्लेख किया है। उनके अनुसार नाटक देखने के संकल्प मात्र से प्रेक्षक के चित्त में परिवर्तन आ जाता है। ज्यों ही कोई व्यक्ति नाटक देखने के लिए रंगशाला में जाने का संकल्प करता है तभी उसके मन में यह विचार उठता है कि आज सारी परिषद के लिए सम्मान आनन्दप्रद एवं अन्त तक सरस होने से आदरणीय लोकोत्तर को देखने सुनने का अवसर मिलेगा इस अभिप्राय और संस्कार से प्रेक्षक का चित्त साधारणता की ओर उन्मुख होता है। अभिनवगुप्त के इस कथन से स्पष्ट है कि सहृदय साधारणीकरण का आरंभ नाट्य दर्शन से पूर्व ही हो जाता है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में सहृदय के साधारणीकरण के समकक्ष निर्व्यक्तकता का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। कला या काव्य के आस्वादन के लिए निर्व्यक्तकता की शर्त पश्चिम में भी स्वीकार की गई है, जो प्रकारान्तर से पाठक के साधारण्य का ही दूसरा नाम है। इस साम्य की ओर पहले भी कुछ विद्वानों ने संकेत किया है। उदाहरण के लिए प्रोफेसर कान्तिचन्द्र पाण्डे ने 'विरेचन' संबंधी हेगेल कृत व्याख्या के समानान्तर अभिनवगुप्तादि द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि हेगेल के अनुसार विरेचन का अर्थ है निर्व्यक्तकीकरण (डि-इंडिविजुअलाइजेशन)। भारतीय दृष्टि से भी विरेचन का अर्थ शुद्धीकरण है क्योंकि यहाँ भी प्रमाता के चित्त को देश कालादि के विशेष संबंधों से मुक्त करके उसकी वैयक्तकता के निषेध का विधान है। देशकालादि संबंधों से सहृदय के चित्त की मुक्ति को सर्वथा विरेचन तुल्य मानने पर मतभेद हो सकता है।

I UnHKZ %

1. नाट्यशास्त्र, पृ0 37
2. रस विमर्श, पृ0 159
3. काव्य प्रदीप, पृ0 67
4. अभिनव भारती भाग-1, पृ0 36
5. अभिनव भारती भाग-1, पृ0 284

Hkkj rh; uotkj .k dk Lo: i
vkj nfy r pruk

j tuh'k dækj i k.Ms *

आधुनिक भारत के निर्माण में भारत में चले बहुत से सांस्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक एवं स्वतंत्रता आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। एक ओर जहाँ स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में नई चेतना के बीच अंकुरित हो रहे थे वहीं विदेशी सत्ता से मुक्ति के लिए भी एक आधारभूत पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। इस नव-निर्मित चेतना को इतिहासकारों एवं चिंतकों ने नवजागरण या पुर्नजागरण के रूप में रेखांकित करने का प्रयास किया है। यह नवजागरण मूलतः सुधारवादी और एक सीमा तक परिवर्तन के मूल्यों से प्रेरित था। भारतीय नवजागरण को लेकर भी दो प्रकार की धारायें हमें इतिहास में समानांतर चलती हुई दिखायी देती हैं। नवजागरण की एक धारा का सूत्रपात राजा राममोहन राय से होता है और दूसरी का महात्मा ज्योतिबा फूले से। एक की शुरुआत बंगाल से होती है तो दूसरी धारा की महाराष्ट्र से। बंगाल वाली धारा आधुनिक शिक्षा, धार्मिक सुधार और सामाजिक कुरीतियों को लेकर चलती है, तो महाराष्ट्र धारा इतिहास के अनुत्तरित प्रश्न दलित और स्त्री के सवाल और ब्राह्मणवादी शोषणकारी संस्थानों के षड्यंत्रों को उजागर करती है। भूमिका दोनों की महत्वपूर्ण है लेकिन इनमें समस्या यह है कि भारतीय इतिहासकारों ने राजा राममोहन राय और उनके ब्रह्म समाज और उसी के साथ-साथ अन्य सुधारवादी धारा को तो इतिहास में जगह दी लेकिन महात्मा ज्योतिबा-सावित्री बाई फूले को इतिहास निकाला दे दिया। इतिहासकारों ने राजा राममोहन राय को भारतीय नवजागरण का अग्रदूत मान लिया लेकिन ज्योतिबा फूले को शिरे से खारिज कर दिया या जिक्क किया भी तो मात्र नामोल्लेख तक।'

*अध्यापक, जवाहर नवोदय विद्यालय, रोशनाबाद, हरिद्वार, उत्तरांचल

इस संबंध में इतिहासकार लाल बहादुर वर्मा कहते हैं—“स्वतंत्र भारत में दो सबसे प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों को ले। बहुत दिनों तक आर.सी. मजूमदार, के.के. दत्ता और एच.सी. राय चौधरी की किताब ‘ऐन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इण्डिया’ कई पीढ़ियों तक मानक टेक्स बुक बनी रही। उसमें राजा राममोहन राय पर तो विस्तार से चर्चा है, कई बार, कई संदर्भों में, पर फूले का जिक्र तक नहीं है।”²

यह इतिहास में बेदखल किये जाने का सवाल भी बनता है कि सचेतन रूप से यह वर्ण संस्कार के चलते फूले इतिहास से बेदखल किये गए। समाज से तो दलित हजारों साल से ही बेदखल कर दिए गए थे। सवाल आधुनिक समय में आधुनिक चेतना और संदर्भों से जुड़कर और गहरा हो जाता है। जबकि राममोहन राय सुधारवादी विद्वान थे और फूले परिवर्तनकारी चिन्तक। राममोहन ने भारतीय समाज के आधारभूत ढांचे में परिवर्तन के लिए किसी पद्धति को नहीं चलाया। उनके द्वारा बनाये गये ‘ब्रह्मसमाज’ की आंतरिक संरचना ही सुधारवादी मूल्यों से संचालित थी। जाति विरोधी आंदोलन या स्त्री-मुक्ति के सवालों पर ब्रह्मसमाज खामोश था। स्त्री के लिये उन्होंने विधवा पुनर्विवाह और बाल-विवाह विरोध की बात की। हिन्दू धर्म के सुधार के वे अभिलाषी बने रहे। जबकि दूसरी तरफ फूले समाज की आंतरिक ढांचे में परिवर्तन की बात कर रहे थे। उन्होंने शूद्रों और अतिशूद्रों की गुलामी का विरोध किया। फूले अपनी पत्नी सावित्री बाई फूले को स्त्री शिक्षा के लिए प्रेरित किया और ऐसे समय में जब स्त्री शिक्षा की बात करना ही अपने आप में अपराध था उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए पहला स्कूल खोलवाने में सावित्री बाई का सहयोग किया। उन्होंने विधवाओं, अवैध संतानों, किसानों, देवदासियों इत्यादि के लिए सकारात्मक कार्य किये।

इतिहासकार विपिनचन्द्र ने अपनी पुस्तक ‘मार्डन इण्डिया’ में राजा राममोहन राय को ‘आधुनिक भारत का पहला महान नेता’ माना जिसने ‘जीवन भर अपने लोगों और देश के सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक पुर्नजागरण के लिए भरसक प्रयास किया। जबकि विपिनचन्द्र की वैचारिक पृष्ठभूमि हिन्दू इतिहासकार की नहीं रही बल्कि उन्हें प्रगतिशील इतिहासकार माना जाता है। इसी तरह का विचार प्रमुख इतिहासकार सुमित सरकार का भी है।

संभवतः यह इन इतिहासकारों की सीमायें हैं जिन्हें जाति मुक्त नहीं कर पाती। हालांकि आठवें दशक के बाद इतिहास लेखक की एक नई धारा

‘सब अल्टर्न स्टडीज’ ने इतिहास के कुल लेखक का कार्यभार अपने कंधों पर वहन किया। अपनी सीमाओं के बावजूद इसमें इतिहास के बहुत से अनुत्तरित प्रश्नों और हासियों की अस्मिताओं को केन्द्र में लाने का भरसक प्रयास किया।

हमारी समझ में यदि राममोहन राय आधुनिक भारत के जनक है तो महात्मा फूले नये भारतीय समाज के निर्माता हैं। वे किसी भी मायने में कमतर नहीं है। इसमें आगे बढ़कर मैं तो यहां तक कहना चाहूंगा कि भारतीय नवजागरण की शुरुआत बंगाल से नहीं बल्कि महाराष्ट्र से मनानी चाहिए। फूले ने गुलामगिरि के माध्यम से दलित मुक्ति का घोषणा तैयार किया था और उसे उन्होंने अमेरिका अश्वेत जनता को समर्पित किया था, क्योंकि अमेरिका समाज गुलामी प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा से मुक्त हुआ था। दुनिया की इतिहास-समाज से पूरी तरह वाकिफ थे फूले।³ फूले के बारे में बताते हुए दलित चिंतक कंवल भारती का कहना है कि—“आधुनिक भारत में नवजागरण की लहर बंगाल से चली, ऐसा माना जाता है। क्योंकि राजा राममोहन राय, रामकृष्ण और विवेकानन्द को पैदा करने का श्रेय बंगाल को जाता है। परन्तु वास्तव में जिसे हम नवजागरण कह सकते हैं। उसकी लहर महाराष्ट्र से पैदा हुई थी और यह लहर थी दलित मुक्ति के आंदोलन की, जिसने ना सिर्फ भारत का बल्कि पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया था। इस लहर को भरने वाले थे महात्मा ज्योतिबा फूले, जिनका जन्म 1827 में और निधन 1890 में हुआ था।”⁴

Footnote %

1. बड़त्या, सूरज, 2010; सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्य शास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ0 105
2. वर्मा, लालबहादुर, 2000; इतिहास के बारे में, पृ0 84
3. बड़त्या, सूरज, 2010; वहीं पृ0 107
4. भारती, कंवल, 2002; विमर्श की भूमिका, पृ0 51-52

onka ea jk"Vh; | Uns k&, d v/; ; u
vry xlrk*

जब लोगों के हृदय में भाषा, साहित्य, इतिहास, आर्थिक हित, नस्ल, देश, मजहब तथा राजनीतिक आदर्श और आकांक्षाएँ एक हो तब उनमें राष्ट्रीय भाव उत्पन्न हो जाते हैं। राष्ट्रीय भावनाओं के फलस्वरूप ही राष्ट्रवाद का जन्म होता है। वह राष्ट्र कहलाने लगती है।

पाश्चात् विद्वानों ने इस गलत तथा भ्रामक धारणा को बल दिया कि राष्ट्रवाद मूलतः एक यूरोपीय विचार है, कुछ ने यह भी भ्रम फैलाया कि यह इंग्लैण्ड की देन है तथा 19 वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन के साथ इसका भारत में भी विकास हुआ, मार्क्सवादी चिंतक ए.आर.देसाई ने इसे एक आधुनिक विचार माना है, जिसका विकास भारत में ब्रिटिश तथा विश्व के प्रभावों के फलस्वरूप हुआ है। सही बात तो यह है कि भारत में राष्ट्रवाद की भावना इतनी ही प्राचीन है जितने कि वेद प्राचीन है। क्योंकि वेदों में राष्ट्र शब्द का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है प्रस्तुत शोध प्रपत्र में वेद मंत्रों के माध्यम से राष्ट्र की अवधारणा को इंगित करने का प्रयत्न किया जायेगा।

लगभग सभी विद्वानों (अंग्रेज परस्त या यूरोप की नकल करने वाले) ने माना की 19 वीं शताब्दी में ही भारत में राष्ट्रवाद का उदय हुआ जबकि सत्यता यह है कि राष्ट्रवाद का उदय तो वैदिककाल में ही हो गया था, परन्तु मध्यकाल में राष्ट्रवाद का ह्रास हो गया था और 19वीं शताब्दी में हुए सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन एवं संचार क्रांति के कारण केवल राष्ट्रवाद का पुनरुत्थान हुआ। अतः आमतौर पर प्रचलित इस भ्रांति को दूर करने के लिए कि भारत में राष्ट्रवाद का उदय केवल 19 वीं शताब्दी में ही हुआ, इस संदर्भ में यहाँ वेद (यजुर्वेद) के मंत्रों का मूल पाठ प्रस्तुत है –

“भारत वर्ष हमारा प्यारा अखिल विश्व से न्यारा,
सब साधन से रहें समुन्नत, भगवन्! देश हमारा।

हों ब्राणमें ब्राम्हण विद्वान्, राष्ट्र तेज धारी,
महारथी हों, शूर धर्नुधर क्षत्रिय लक्ष्य-प्रहारी।
गाँव भी अति मधुर दुग्ध की रहें बहाती धारा।।
सब साधन से रहें समुन्नत, भगवन्! देश हमारा ।।।।’

इसी प्रकार अथर्ववेद में लिखा है –

माँ वसुधे! जो लोग जगत में रखते हम लोगों से द्वेष,
जो चढ़ आते सैन्य सजाकर देने के हित हमको क्लेश,
जो मन से भी अहित चाहते, बध करने को हैं तैयार—
रिपु संहारिणी! पहले ही तू कर दे उन सबका संहार।।’
अथर्ववेद में स्पष्ट कहा गया है कि &

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽ भवद् वशी।।’

HkkokFk% हमारे शिक्षक, नेता और अधिकारी ब्रह्मचारी हों।

वे चरित्रभ्रष्ट न हों अन्यथा अनर्थमूलक असामाजिक तत्त्वों का विकास होगा ओर राष्ट्र पतित हो जायेगा। आज ये तीनों ही किस स्तर तक स्वार्थ में अंधे होकर राष्ट्र को और स्वयं अपने आपको भी पतन के गर्त में गिरा रहे हैं, इसे हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

ऋग्वेद में यह भी स्पष्ट निर्देश है कि ‘ आ देवानाम भवः केतुरग्ने’ केवल श्रेष्ठ व्यक्ति ही जनता का नेता बने, नेतृत्व कभी भी चरित्रहीन लोगों के हाथ में न जाने दिया जाये। यह प्रत्येक जागरूक नागरिक का कर्तव्य है।

इसी प्रकार अथर्ववेद यह भी स्पष्ट करता है कि –

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो
हर्षमाणा ह्यषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना
उप प्रयन्तु नरो अग्निरूपाः।। 4

HkkokFk& हमारे सैनिक बलशाली हों, शत्रुमर्दन की योग्यता रखते हों और सदैव प्रसन्न रहने वाले हों। उनके अस्त्र कुण्ठित न हों। राष्ट्र रक्षा में वे अपने हितों का होम देने को तत्पर रहें। क्योंकि सैनिक राष्ट्र की अस्मिता व गौरव के सजग प्रहरी होते हैं। वही बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा करते हुए आंतरिक सुरक्षा एवं शांति का वातावरण निर्मित करते हैं। सैनिकों का असीम बलशाली होना तथा हर प्रकार के शत्रुओं का मानमर्दन कर सकने की अतुलित क्षमता से संपन्न होना अत्यंत आवश्यक है।

ऋग्वेद में भी राष्ट्रीयता का संदेश दिया गया है यथा –
उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः
समग्निमिन्ध्वं बहवः सुनीलाः।
दधिकामग्निमुषसं च
दवीमिन्द्रावतोऽवसे नि द्वये वः।⁵

HkkokFkZ & जिस समाम में अधिक से अधिक लोग एक मन, विचार और संकल्प वाले होते हैं वह समाज उन्नतिशील होता है, वहाँ लोग तेजस्वी होते हैं। अपूर्व संगठन और एकता का प्रवल संदेश वेदों का महत्व दर्शाता है –
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।⁶

HkkokFkZ & हमारा हृदय, मन, संकल्प एक से हों जिससे हमारा कभी न बिगड़े। क्योंकि संगठन सहयोग और मैत्री भाव स्वस्थ समाज के आवश्यक अंग हैं, समाज में हर प्रकार के व्यक्ति होते हैं। ऐसे में यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति दूसरे के प्रति सहिष्णु एवं उदार हो।

इसी प्रकार –
समानो मंत्र समिति समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाय।
समानं मंत्रमभि मंत्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि।⁷

HkkokFkZ & सभी मनुष्यों के विचार समान हों, सब संगठित होकर रहें सबके मन, चित्त तथा यज्ञ कार्य समान हो अर्थात् सब मिल जुलकर रहें। वेदों में यह भी कहा गया है कि –

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभिविजंगडहे।
तेजो राष्ट्रस्य निहन्ति न वीरो जायते वषा।⁸

HkkokFkZ & जहाँ ब्रह्मवेत्ताओं का, वेद विद्या का निरादर होता है वह राज्य (राष्ट्र) नष्ट हो जाता है। वहाँ कोई तेजस्वी तथा वीर नहीं होता।

शिक्षा और संस्कार ही नहीं, ऋषि लोग समय और परिस्थितियों के अनुसार राज्य की नीति का निर्धारण भी करते थे। अतः हम सभी का यह पुनीत कर्तव्य है कि ज्ञानवान, चरित्रवान, निष्ठावान व्यक्तियों को उचित प्रोत्साहन, संरक्षण एवं सम्मान दें तथा वेद विद्या के विद्वानों का निरादर न होने दें।

इसी प्रकार अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है कि –

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परा तत् सिच्यते राष्ट्र ब्राह्मणो यत्र जीयते।⁹

HkkokFkZ & जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों को, वेद वेत्ताओं का सताया जाता हो वह राष्ट्र ज्ञान हीन होकर नष्ट हो जाता है।

इसी संदर्भ में अथर्ववेद का एक और मंत्र उल्लेखित है &
स्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।¹⁰

HkkokFkZ & जिस राष्ट्र का हमारे पूर्वजों ने निर्माण किया है और दुष्टों से रक्षा की है उसके निर्माण के लिए हम अपना त्याग और बलिदान करने को तैयार रहें। जब हम राष्ट्र के हित को सर्वोपरी समझकर अपने हितों को प्रसन्नता से छोड़ने को तत्पर होंगे तभी राष्ट्र ऋण से मुक्त हो सकेंगे।

राष्ट्र निर्माण को समझाते हुए अथर्ववेद में लिखा है कि –
यां रक्षन्तस्वप्रा विश्वदानीं
देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं
दुहामथो उक्षतु वर्चसा।¹¹

HkkokFkZ & राष्ट्र के निर्माण के लिए हम सभी नागरिक कर्मशील और जागरूक हों। आलसी और प्रमादी व्यक्ति जिस देश में होते हैं वह देश गुलाम हो जाता है। कभी भारत राष्ट्र भी जगतगुरु कहलाता था। वर्ण व्यवस्था के स्वस्थ परंपरा के अनुरूप सभी नागरिक जागरूक रहकर सतत् कर्मशील बने रहते थे। वे अपनी उन्नति तो करते ही थे, राष्ट्र का भी चहुँमुखी विकास करते थे।

देशभक्ति और एकता की भावनाएँ के कारण प्राचीन तथा मध्यकाल में हमने विदेशियों से लोहा लिया और उनके राज्यों को नष्ट-भ्रष्ट करके पुनः स्वतंत्रता प्राप्त की। प्राचीन और मध्यकाल में हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप पहले धार्मिक और सामाजिक रहा और बाद में राजनीतिक बना। ब्रिटिशकाल में अंग्रेजी राष्ट्र के विरुद्ध स्फूर्ति राष्ट्रवाद राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रकट हुआ। अतः भारत राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद मूलतः सांस्कृतिक तथा अध्यात्मिक, सामूहिक एवं विवेकपूर्ण सनातन धर्म पर आधारित था इसकी प्रमुखता सांस्कृतिक व सामाजिक है न कि राजनीतिक व आर्थिक, प्रकृति में

यह विकासवादी है न कि किसी विशेष परिस्थिति की उपज है। सांस्कृतिक जीवन की यह विचारधारा प्राचीन काल से वर्तमान तक भारतीयों के मनोभावों को विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्त करती रही है। यह सदेव भारतीय जनजीवन में सतत प्रेरणा, स्फूर्ति जागरण के साथ साथ संघर्ष त्याग तथा बलिदान के लिए भी प्रेरित कर रही है इसी भाव को स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष इत्यादि नेता जो समाज सुधारक भी थे और राष्ट्रवादी भी थे इन्होंने अपने देश की गौरवपूर्ण प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के बारे में जो स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की, उसके फलस्वरूप हमारे देश में राष्ट्रवाद की गति और तेज हो गई।

I nHkz %

1. ओऽम आ ब्रह्मन् ब्रह्माणो ब्रह्मा वर्चसी जायताम्।
आराष्ट्र राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।
दोग्धी धेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्तिपुरन्धी योषा जिष्णुरथेष्ठा।
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्।
निकामे निकामे न पर्यन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः
पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।। (यजुर्वेद अध्याय 2 मंत्र 22)
2. यो नो द्वेषत पषथेवि यः पतन्याद्
योऽभिदासान्मनसा यो षर्धन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकष्वरि।।(अथर्ववेद 12. काण्ड 14)
3. सर्वस्वर्णमयी लंका न लक्ष्मण मे रोचते।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।।(बाल्मीकी रामायण)
4. पं.श्रीराम शर्मा-वेदों का दिव्य संदेश युग निर्माण योजना मथुरा 2003;
से लिए गए
अथर्ववेद 4/31/1
5. ऋग्वेद 10/101/1
6. ऋग्वेद 10/151/4
7. ऋग्वेद 10/151/3
8. अथर्ववेद 5/19/4
9. अथर्ववेद 5/19/6.
10. अथर्ववेद 12/1/5
11. अथर्ववेद 12/1/7

vdcj }kjk fpr dj k; s x; s i æ [k fp=
, oa mudh , frgkfl d i "BHKfe
vj folnz dækj ; kno*

भारतीय इतिहास में मुगल शासकों की पराकाष्ठा यद्यपि उनके युद्धों के कारण रही है, तथापि चित्रकला की दृष्टि से उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय छाप छोड़ी है। उन्होंने धर्मनिर्पेक्ष नीति का अनुसरण करते हुए संस्कृति एवं कला के वैभव को बनाये रखा। उन्होंने फारसी चित्रकारों को अपने दरबार में आमन्त्रित करके हिन्दू कलाकारों को उनके साथ मिलकर काम करने का अवसर प्रदान किया। वस्तुतः इन दोनों शैलियों के समायोजन से भारत में मुगल शैली का जन्म हुआ।

अकबर मुगल वंश का वह महान सम्राट था, जिसने मुगल चित्रशैली को एक नया स्वरूप प्रदान किया। अकबर स्वयं एक कुशल चित्रकार था। इसलिए उसने चित्रकला को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। उसका मानना था कि कला अध्ययन तथा मनोरंजन का साधन मात्र ही नहीं है, बल्कि वह विवेक, बुद्धि तथा विष को मारने वाली औषधि के समान है।¹ अकबर चित्रकला को एक नवीन आयाम देना चाहता था, इसलिए उसने चित्रकारों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की और उन्हें राजकीय संरक्षण में चित्रकला की उत्तम किस्म की सामग्रियों उपलब्ध करवायी। अतः अकबर का शासन काल चित्रकला के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इन चित्रों के माध्यम से उस काल की ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। इन चित्रों की संक्षिप्त रूप-रेखा निम्नलिखित है-

1. बैरम खाँ द्वारा अकबर को निशानेबाजी की शिक्षा का चित्र

गोवर्धन दास द्वारा 1604 में निर्मित यह चित्र ब्रिटिश संग्रहालय लण्डन में सुरक्षित है। इस चित्र में बैरम खाँ एक पहाड़ी स्थान पर बालक अकबर को निशाना लगाना सिखा रहें हैं। इस चित्र को देखने से लगता है कि अकबर की आयु लगभग 6-7 वर्ष की है। चित्र में अकबर निशाना लगा रहा है, जिसके पीछे बैरम खाँ खड़ा है, मध्य भाग में कुछ दरबारी खड़े हैं, जो

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बलदेव पी0जी0 कालेज, बड़ागांव, वाराणसी, उ0प्र0

आपस में बातें करते हुए अकबर की ओर देख रहें हैं। बैरम खान लम्बा चोगा तथा ईरानी टोपी पहने हुए है। आकृतियों के चित्रण तथा पृष्ठीभूमि में पार्शियन तत्वों की प्रमुखता है।

गोवर्धन दास द्वारा चित्रित यह चित्र मुगल काल में बैरम खाँ के महत्व को दर्शाता है।

2. विवाहोत्सव पर संगीत प्रस्तुति का चित्र

इस चित्र की रचना लाल ने की थी, जिसमें अकबर को राजसिंहासन पर बैठे हुए एक युवक के समान चित्रित किया गया है। उसके समीप एक कालीन पर माहम अंगा बैठी है तथा निचले भाग में कुछ महत्वपूर्ण व्यक्ति बैठे हुए हैं, जिनमें से कुछ के हाथ में अशर्फियों से भरी थैलियाँ हैं। एक दरबारी झुककर माहम अंगा से कुछ कह रहा है। दूसरे पृष्ठ पर कुछ संगीतकार ढोल बजा रहें हैं और नीचे की ओर नृत्य का चित्र है। शानदार शामियानों तथा कालीनों द्वारा अकबरी दरबार के वैभव को दर्शाया गया है।

चित्र में नीचे लिखित लेख के अनुसार इस चित्र का रंगाकन बनवारी तथा साँवला द्वारा किया गया है। इस चित्र में सुन्दर आकर्षण रंगों के भावपूर्ण संयोजन द्वारा अकबरकालीन वास्तु कला एवं हर्षोल्लास का वातावरण तथा माहम अंगा का प्रभुत्व दर्शाने में कलाकार पूर्ण सफल हुआ है।

यह चित्र अकबर के शासनकाल की प्रारम्भिक वर्षों के ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है, जिसमें अकबर की धाय माँ माहम अंगा के प्रभुत्व का दर्शन होता है। माहम अंगा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र बाकी मुहम्मद के विवाह अवसर पर एक उत्सव का आयोजन किया था, जिस अवसर पर सम्राट की ओर से बहुत सा धन गरीबों में बाँटने के लिए दिया गया। यह चित्र इसी उत्सव से सम्बन्धित है।¹²

3. मालवा के नर्तकों का अकबर के सामने नृत्य प्रदर्शन का चित्र

यह चित्र केशु की रचना है जिसका चित्रांकन धरमदास ने किया है। चित्र में मालवा के विशेष नर्तकों द्वारा अकबर के समक्ष नृत्य को चित्रित किया गया है तथा अकबर को नर्तकों को पुरस्कार देते हुए दिखाया गया है। चित्र में संगीत एवं नृत्य के माध्यम से सम्पूर्ण वातावरण को संगीतमय बनाया गया है। व्यक्ति आकृतियों को आपस में बात करते हुए दर्शाया गया है। हल्के तथा गहरे रंगों से कलाकार ने चित्र में संतुलन प्रदान किया है।

यह चित्र मालवा के शासक बाजबहादुर की पराजय से सम्बन्धित है। इस चित्र में इसी ऐतिहासिक घटना का दृश्य चित्रित है।¹³

4. रंत:पुर दुर्ग की चाबी समर्पित करते हुए राणा सुरजन सिंह का चित्र

इस चित्र में रन्त:पुर के राजा सुरजन सिंह हाड़ा को अकबर के समक्ष आत्मसमर्पण करते हुए दर्शाया गया है। चित्र में सम्राट अकबर को सिंहासन पर बैठे हुए तथा उसके चारों ओर खड़े हुए दरबारी और सुरजन सिंह को अकबर के कदमों में सजदा करते हुए तथा रणथम्भौर दुर्ग की सोने चांदी से बनी हुई चाबी समर्पित करते हुए चित्रित किया गया है। समस्त दरबारी सुरजन सिंह के पीछे खड़े हुए इस दृश्य को ध्यापूर्वक देख रहे हैं। भव्य कालीनों द्वारा अकबरी दरबार के वैभव को भी चित्र में बखूबी दर्शाया गया है।

चित्र के पृष्ठभूमि में पार्शियन शैली युक्त पहाड़ियों तथा ऊँचाई पर रणथम्भौर के दुर्ग को चित्रित किया गया है। इस अवसर पर लाल आहते में सुरजन सिंह की ओर से अनेक उपहार दो घोड़ों व एक हाथी को भेंट करते हुए चित्रित किया गया है। नीचे पृष्ठभूमि में एक व्यक्ति के हाथ पर बाज को बैठे हुए दर्शाया गया है।

यह चित्र अकबर द्वारा रन्त:पुर दुर्ग पर अधिकार करने और राजा सुरजन सिंह की अधीनता से सम्बन्धित एक ऐतिहासिक घटना से सम्बन्धित है। चित्तौड़गढ़ जैसे विशाल दुर्ग पर अधिकार करने के पश्चात 21 दिसम्बर 1568 में अकबर ने रन्त:पुर के दुर्ग पर विजय प्राप्त करना चाहा। यह दुर्ग पहाड़ी के मध्य में स्थित है। राजा सुरजन सिंह इस दुर्ग का दुर्गपति था। अकबरनामा के अनुसार अकबर ने इस दुर्ग पर आक्रमण करके राजा सुरजन सिंह को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया था।¹⁴ यद्यपि सुरजन सिंह एक वीर योद्धा था तथापि वह अकबर के विशाल सेना का सामना करने में असमर्थ था। वस्तुतः उसने अकबर के साथ सन्धि कर ली और रणथम्भौर के किले की चाबी अकबर को सौंप दी। अकबर ने सुरजन सिंह के साथ कृपापूर्ण व्यवहार किया और उसे सुरक्षा प्रदान की।¹⁵

5. अकबर द्वारा आधम खान को मृत्यु दण्ड देने का चित्र

यह चित्र माहम अंगा के पुत्र आधम खान के उत्थान-पतन से सम्बन्धित है। चित्र में उच्चतर भाग में जनानखाने में दीवाने-आम के साथ सम्राट अकबर को क्रोधित अवस्था में प्रदर्शित किया गया है। जिसके हाथ में नंगी तलवार है। वह फरहत खान और संग्राम नामक दरबारियों को आधम खान को नीचे फेंकने का आदेश देते हुए चित्रित है। जनान खाने की छत पर जाने के लिए सीढ़िया दर्शायी गयी है। चित्र के मध्य भाग में आधमखाने का उल्टा नीचे गिरता हुआ शरीर तथा भयभीत मानवाकृतियाँ चित्रित हैं तथा सम्राट द्वारा दिये गये दण्ड के निर्देश को हाशिए में लिखा गया है।

चित्र में कलाकार ने हल्के तथा गहरे रंगों का मिश्रित रूप में प्रयोग किया है। सम्राट अकबर के वस्त्रों के लिए हल्के रंग तथा दरबारियों के आकृतियों के गहरे रंग का प्रयोग किया गया है। इस चित्र में रेखाचित्रों का इस प्रकार प्रयोग किया गया है कि वह वास्तविकता को प्रदर्शित कर रही है।

मिस्किन तथा शंकर द्वारा चित्रित यह चित्र आधम खान के बगावत और आधम खान की मृत्यु की ऐतिहासिकता से सम्बन्धित है। इस प्रकार आधम खान का अन्त हो जाता है।⁶

उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त अकबर कालीन ऐतिहासिक चित्रों में अकबर द्वारा बालक अब्दुरहीम का स्वागत, अकबर को सलीम के जन्म की सूचना होने पर हर्षोल्लास, फतेहपुर सीकरी के भवनों का निरीक्षण करते हुए अकबर, हवाई नामक हाथी द्वारा आश्चर्यजनक करतब, चीते द्वारा राजसी काफिले पर आक्रमण, संगीतकार तानसेन, अध्ययन करते हुए व्यक्ति, माया मैरी, तथा प्रभु ईसा, बाग-ए-वफा, कन्द ए बादाम में बाजार की तुलाई तथा लादान, उलूग बेग मिर्जा के बाग में बाबर, वारान में पक्षियों को पकड़ने, रूस्तम के जन्म तथा रज्मनामा के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त चित्रों की व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगल सम्राट अकबर के द्वारा चित्रित कराये गये ऐतिहासिक चित्र भारत के इतिहास के लिए अत्यन्त अमूल्य हैं, जिसके द्वारा हमें उस समय के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। मुगल कालीन इतिहास में घटित घटनायें तथा उससे सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण भारतीय इतिहास का अभिन्न अंग है तथा यह भारतीय संस्कृति एवं कला को नई दिशा प्रदान करता है।

I UnHkz %

1. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज, पृ0 113
2. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज, पृ0 115
3. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज, पृ0 204-5
4. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज, पृ0 492
5. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज,
6. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज, पृ0 492
7. अबुल फजल, आइने-ए-अकबरी, अनुवाद एस0 बैवरेज, पृ0 269

xkthi j tui n ds foRrfoghu ekU; rk i klr
ek/; fed fo | ky; ka ea v/; ki ujr i # "k , oa
efgyk f' k {kdk a dh l eL; kvka dk
rgyukRed v/; ; u

ukxlnz jke*

व्यक्ति के जीवन में शिक्षक का महत्वपूर्ण योगदान है बालक जो कि प्रारम्भिक अवस्था में असहाय एवं पार्थिव शरीर की भांति होता है शिक्षक समाज का प्रतिनिधि करने के साथ-साथ समाज का एक अभिन्न अंग माना जाता है। जो शिक्षक एक पार्थिव शरीर धारण बालक को ज्ञान ज्योति प्रदान करके उसे दुनियां के सर्वोच्च शिखर-शिखर पर पहुंचने का कार्य करता है। वही शिक्षक आज के भौतिकवादी युग में विश्व के बदलते परिवेश में तमाम प्रकार की समस्याओं में जकड़ता जा रहा है। जिसने विश्व के विभिन्न प्रकार के तन्त्रों को ज्ञान एवं नियम कानून बनाने की कला प्रदान किया उसका अस्तित्व अब संकट के कगार पर आ चुका है।

v/; ; u dh vko' ; drk&विगत कुछ वर्षों से गाजीपुर जनपद की शिक्षा व्यवस्था शिक्षा माफियाओं की गिरफ्त में जकड़ती जा रही है। इस जनपद में वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की बाढ़ सी आ गयी है। इनकी संख्या की तुलना में वित्तीय मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या नाममात्र की रह गयी है परिणामस्वरूप वित्तीय मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में छात्र संख्या वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की छात्र संख्या की तुलना में काफी कम है। अब प्रश्न बनता है कि—

1. क्या वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक अपने दायित्वों का निर्वहन करने में समस्याओं का अनुभव करते हैं?
2. क्या वित्तविहीन माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की समस्याएं एक जैसी हैं?
3. क्या दोनों प्रकार के शिक्षकों की समस्याओं में भिन्नता है?

* शोध छात्र, माँ दुर्गा जी पी0जी0 कालेज, चण्डेश्वर, आजमगढ़, उ0प्र0

इन प्रश्नों के समाधान हेतु इस शोध अध्ययन की आवश्यकता महसूस की गयी जिससे यह ज्ञात हो सकें कि वित्तविहीन मान्यता प्राप्त शिक्षकों एवं शिक्षिकाएं अपनी-अपनी समस्याओं के प्रति कितने गम्भीर हैं तथा अपने-अपने कार्यों का कितना अनुपालन करते हैं।

v/; ; u dk mnns; % 1. गाजीपुर जनपद के वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत महिला एवं पुरुष शिक्षकों की शैक्षिक समस्याओं की तुलना करना। 2. गाजीपुर जनपद के वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापनरत महिला एवं पुरुष शिक्षकों की आर्थिक समस्याओं की तुलना करना। 3. विद्यालय वातावरणीय समस्याओं की तुलना करना।

ifjdYi uk % 1. गाजीपुर जनपद के वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत महिला एवं पुरुष शिक्षकों की शैक्षिक समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं है। 2. उपरोक्त में आर्थिक समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

xkthij tui n ds foRrfoghu ekU; rk i klr ek/; fed fo | ky; ka ea v/; ki ujr i # "k , oaefgyk f' k {kdk dh l eL; kvka dk 'kF {kd Lrj ij rgyukRed v/; ; u

rkfydk l a; k&1

Ø0l Ø l eng l a; k Ekk/; ekud fopyu Vh&ew;

1. पुरुष 150 5.32 2.12 1.33

2. महिला 150 5.20 3.00 1.97

* 0.05 l kFkdrk Lrj ij l kFkd vUlj gA

xkthij tui n ds foRrfoghu ekU; rk i klr ek/; fed fo | ky; ka ea v/; ki ujr i # "k , oaefgyk f' k {kdk dh l eL; kvka dk vkfFkd Lrj ij rgyukRed v/; ; u

rkfydk l a; k&1

Ø0l Ø l eng l a; k Ekk/; ekud fopyu Vh&ew;

1. पुरुष 150 5.38 2.08 1.07

2. महिला 150 5.32 2.03 1.97

* 0.05 l kFkdrk Lrj ij l kFkd vUlj gA

ifj.kke , oa0; k; % तालिका संख्या 1 एवं 2 के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की शैक्षिक, आर्थिक समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

अतः परिकल्पना नं0-1, नं0-2 स्वीकार की जाती है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि वित्तविहीन माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की शैक्षिक, आर्थिक समस्याएं समान है। क्योंकि तालिका उपरोक्त सभी का मध्यमान लगभग समान है। इनमें किसी प्रकार का सार्थक अन्तर नहीं है।

fu"d"k% गाजीपुर जनपद के वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापनरत शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की शैक्षिक, आर्थिक समस्याओं में कोई सार्थक अन्तर नहीं है अर्थात् समस्त शिक्षक एवं शिक्षिकाएं उपरोक्त समस्याओं से प्रभावित है।

'kF {kd fufgrkFk% गाजीपुर जनपद के वित्तविहीन मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में कार्यरत शिक्षकों एवं शिक्षिकाओं की शैक्षिक, आर्थिक समस्याएं एक समान है अर्थात् सभी वित्तविहीन माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षक समस्याओं से परेशान है। ऐसी स्थिति में उनसे उत्तम एवं प्रभावी शिक्षण की कामना नहीं की जा सकती। शासन एवं प्रशासन के साथ-साथ ऐसे शैक्षिक अभिकरण जो शिक्षण संस्थाएं संचालित करते हैं उन्हें इन शिक्षकों की समस्याओं पर ध्यान एवं उनका निदान करने का प्रबन्ध करना चाहिए अन्यथा शिक्षा का स्तर दिन-प्रतिदिन गिरता जायेगा।

l UnHk %

1. सिंह, आर. एन., 1991-92; आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान, यू.एस. पब्लिशर्स, वाराणसी, पृ0 213
2. सारस्वत, मालती 1992; शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, आलोक प्रकाशन, इलाहाबाद पृ0 48
3. पाण्डेय, रामसकल, 2007; उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा
4. जायसवाल, सीतामल, 1967; शिक्षा विज्ञान कोश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. अग्निहोत्री, रवीन्द्र 2007; आधुनिक भारतीय शिक्षा समस्याएं और समाधान, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

Ñf'k fodkl ea foUk dh Hkfedk

mfeUk /kpdkfj ; k*

प्रत्येक व्यवसाय को सुचारू रूप से चलाने के लिए पूंजी की आवश्यकता अन्य उद्योगों की अपेक्षा कृषि में अधिक होती है। कृषि-व्यवस्था में स्थायी लागत के लिए पूंजी अधिक राशि में निवेश करनी होती है। कृषि में तकनीकी, ज्ञान के प्रसार, उन्नत किस्मों के बीजों के आविष्कार, उर्वरक एवं कीटनाशी दवाइयों का कृषि में अधिक उपयोग, कृषि यन्त्रीकरण, सिंचाई के लिए विद्युत का उपयोग आदि के कारण कृषि में पूंजी की आवश्यकता है, जिसमें फार्म पर पूंजी की आवश्यक राशि में भी वृद्धि हुई है। कृषि-व्यवसाय में बचत की राशि कम होने के कारण कृषकों के पास उपलब्ध पूंजी आवश्यकता से बहुत कम होती है जिसे वे ऋण लेकर पूरा करते हैं।

प्रत्येक व्यवसाय की सफलता के लिए धन की आवश्यकता होती है। कृषि भी एक व्यवसाय है। कृषि व्यवसाय में पूंजी की आवश्यकता को निम्न प्रचलित कहावत से स्पष्ट किया जा सकता है। "Capital is ammunition in the Forming battle" अर्थात्- जिस प्रकार युद्ध में सफलता प्राप्त करने के लिए गोला-बारूद की आवश्यकता होती है उसी प्रकार कृषि-व्यवसाय में सफलता अर्थात् अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है। पूंजी कृषि उत्पादन में अपरिहार्य कारक है। प्राचीनकाल में कृषि व्यवसाय के लिए आवश्यकता बहुत कम थी, क्योंकि उस समय कृषक बाहर से क्रय नहीं करते थे, बल्कि अपने पास से ही पूर्ति करते थे। सिंचाई भी कुओं द्वारा ही की जाती थी। कृषि में तकनीकी ज्ञान का विकास भी नहीं हुआ था।

वर्तमान में कृषि को एक व्यवसाय के रूप में लेते हैं। उत्पादन के सभी आवश्यक साधनों का प्रचुर मात्रा में उपयोग करते हैं। तकनीकी का ज्ञान के विकास के कारण नये-नये उत्पादन साधनों का आविष्कार हो रहा है। जिन्हें वे अन्य संस्थाओं से क्रय करते हैं। जैसे- उर्वरक, कीटनाशी, दवाइयों, औजार, मशीनें, उन्नत बीज, सिंचाई के लिए विद्युत आदि। इस सभी कारणों

से कृषि-व्यवसाय में पूंजी की आवश्यकता प्रति इकाई क्षेत्र पर पहले की अपेक्षा कई अधिक हो गई है। साथ ही कृषि में आवश्यक भूमि को क्रय करने, फार्म पर आवश्यक भवन जैसे - पशु ग्रह, भण्डार ग्रह आदि का निर्माण करने, कृषि कार्यों के लिए ट्रैक्टर, हारवेस्टर, थ्रेसर, सीड ड्रिली सिंचाई के लिए विद्युत चलित मोटर आदि को क्रय करने के लिए अधिक होती है। कृषि व्यवसाय में स्थायी पूंजी की अधिक आवश्यकता के कारण पूंजी आर्वात अनुपात अन्य व्यवसायों की अपेक्षा कम होती है। अतः पूंजी एक बार लगाने के बाद जल्दी-जल्दी प्राप्त नहीं होती है।

विभिन्न फार्मों पर पूंजी की आवश्यकता में बहुत भिन्नता पायी जाती है। निम्न कारक फार्म पर पूंजी की आवश्यक राशि में परिवर्तन लाते हैं।

- 1 क्षेत्र में भूमि की कीमत एवं फार्म का आकार।
- 2 फार्म पर भूमि को समतल करना, बाड लगाना, सिंचाई के साधनों एवं मशीनों की आवश्यकता।
- 3 फार्म पर उत्पादित किये जाने वाले उद्यमों की प्रकृति एवं उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल।
- 4 खाद्यान्नों की अपेक्षा सब्जी, फल तिलहन फसलों की उत्पादित करने के लिए पूंजी की अधिक आवश्यकता होती है।
- 5 फार्म पर सघन अथवा विस्तृत कृषि की अपनाई जाने वाली प्रणाली।
- 6 फार्म पर तकनीकी ज्ञान के प्रयोग का स्तर।
- 7 फार्म पर आवश्यक उत्पादन साधनों जैसे-उन्नत बीज, खाद, उर्वरक श्रमिक कीटनाशी दवाइयों की लागत राशि आदि।

कृषि-व्यवसाय में प्राप्त होने वाली शुद्ध आय की राशि बहुत कम होती है। जिसके कारण बचत की राशि कम होती है। अतः कृषकों के पास उपलब्ध पूंजी, कृषि व्यवसाय के लिए आवश्यक पूंजी से बहुत कम राशि में होती है। कृषक पूंजी की इस आवश्यक राशि को संस्थाओं एवं गैर-संस्थाओं से ऋण लेकर पूरी करते हैं।

31 मार्च, 1997 से 31 मार्च, 2007 के बीच वितरित दिसम्बर 2007 तक बकाया और 29 फरवरी, 2008 तक भुगतान नहीं हुए प्रत्यक्ष कृषि ऋण योजना के दायरे में रखे गये हैं। इस योजना के तहत कुल 4.29 करोड़ किसानों का लगभग रुपये 71680 करोड़ के ऋण माफ करने का लक्ष्य केन्द्र सरकार का था। योजना के कार्यान्वयन के जिन बैंको के आँकड़े जुलाई 2008 में जारी किए गए, उनके अनुसार 2.98 करोड़ सीमांत छोटे किसानों के रुपये

* एम0ए0 अर्थशास्त्र, न्यू रेशम मिल लाइन, मकान नं0 328, बिरला नगर, ग्वालियर, म0प्र0

50.254 करोड़ के ऋण माफ किए गए, जबकि 65.82 लाख अन्य किसानों को रुपये 16223 करोड़ की राहत ऋण अदायगी में प्राप्त हुए। इस प्रकार कुल मिलाकर 3.64 करोड़ किसानों को रुपये 66,477 करोड़ की ऋण राहत इससे प्राप्त हुई। वर्ष 2010-11 के बजट में ऋण माफी व ऋण राहत योजना के तहत किसानों के ऋण राहत योजना की तहत किसानों के ऋण वापसी की समय सीमा में 6 माह की पुनः वृद्धि करके इसे 30 जून 2010 तक बढ़ा दिया गया था।

वर्ष 2010-11 के दौरान कृषि क्षेत्र को 3,75,000 करोड़ ऋण उपलब्ध कराने का सरकार का लक्ष्य था पूर्व वर्ष 2009-10 में यह लक्ष्य 3,25,000 करोड़ का था, जिसे प्राप्त कर लिया गया था। वर्ष 2011-12 के लिये कृषि साख वितरण का लक्ष्य 475000 करोड़ था। जिसे 2012-13 में 5,75,000 करोड़ कर दिया गया। 2013-14 के लिये 7,00,000 करोड़ का लक्ष्य है। वित्तीय वर्ष 2013-14 में कृषि क्षेत्र को 7,00,000 करोड़ के संस्थागत ऋण उपलब्ध कराने का सरकार का लक्ष्य है।

बैंकों की शाखा उपलब्ध होने से किसानों की भागदौड़ कम हुई है। पहले ऋण प्राप्त करने में ग्रामीणों को काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ता था। आजकल गाँवों में ही बैंक खुलने, तथा ऋण देने वाली संस्थाओं का विस्तार हुआ है। जिससे इन्हें आसानी से ऋण प्राप्त हो जाता है और यह अपने कृषि कार्य आदि बड़ी आसानी से पूरे कर रहे हैं।

I UnHkZ %

1. वी0 राजागोपालन, इण्डियन जनरल ऑफ एग्रीकल्चर एकोनॉमिक, अंक-XXIII, अक्टूबर-दिसम्बर, 1968
2. अग्रणी बैंक सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया, जिला-ग्वालियर, वार्षिक साख योजना, वर्ष 2012-13
3. उपसंचालक कृषि, जिला-ग्वालियर, म0प्र0
4. आर0एल0 एकोफ, दि डिजाइन ऑफ सोशल रिसर्च
5. जिला सांख्याकी पुस्तिका, जिला योजना एवं सांख्यकी कार्यालय, ग्वालियर

d'ehj l eL; k ea l a Ør jk"V^a l a k dh Hkfedk

l g thr fl g HknkSj; k*

भारत के गवर्नर जनरल लार्ड माउन्ट बेटन को यह विश्वास हो गया था। कि दोनों राष्ट्र आपस में बैठकर कश्मीर समस्या नहीं सुलझा सकते हैं तो उन्होंने भारत सरकार को इस प्रकरण को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाने की सलाह दी। पं० नेहरू ने इसे मान लिया यद्यपि उनके सहयोगियों ने विशेषकर गृहमंत्री सरदार पटेल ने इसका विरोध किया था। 1 जनवरी 1948 को आत्म रक्षा में भारत ने अध्याय 6 के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र के अनुच्छेद 34 एवं 35 के अन्तर्गत जम्मू कश्मीर का विषय संयुक्त राष्ट्र संघ के सुरक्षा परिषद में संदर्भित किया। भारत ने सुरक्षा परिषद से अनुरोध किया कि वह पाकिस्तान को आक्रामक देश घोषित करे और आक्रमण को समाप्त कराकर बलात् अधिग्रहीत भूमि पर भारत को अधिकार दिलाये। नेहरू की शांति द्वारा मसलों की सुलझाने की नीति, उनका आदर्शवाद तथा विश्व शांति, लोकतंत्रात्मक मूल्यों में आस्था आदि ने उन पर अत्याधिक प्रभाव डाला, "अन्यथा भारत को नहीं बल्कि पाकिस्तान को संयुक्त राष्ट्र संघ जाना था जिसने विलय को चुनौती दी थी। उस समय संयुक्त राष्ट्र संघ नयी संस्था थी जो पश्चिम के प्रभाव से मुक्त होकर कार्य नहीं कर सकती थी। यद्यपि जम्मू कश्मीर भारत का आन्तरिक मामला था और वह भारत का अभिन्न अंग था। विलय नियमानुसार था, तो उसे संयुक्त राष्ट्र ले जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अपील की थी कि वो पाकिस्तान सरकार से कहे।

1. पाकिस्तान सरकार सैन्य एवं प्रशासनिक रूप से जम्मू कश्मीर में घुसपैठियों को मदद या स्वयं उसमें भाग लेना बन्द करें।
2. वे पाकिस्तान से कहें कि वे जम्मू कश्मीर में लड़ रहे अपने नागरिकों को वापस बुलायें।

*सहायक प्राध्यापक (राजनीति विज्ञान), शास0 महाविद्यालय, बालाजी, भिण्ड, म0प्र0

3 वे घुसपैठियों को निम्न की अनुमति न दें –

अ. कश्मीर में आतंकवाद फैलाने वाले तत्वों की अपनी भूमि के इस्तेमाल

ब. सैन्य एवं अन्य आर्थिक मदद

स. अन्य मदद जो कश्मीर में आतंकवाद को बढ़ावा दे ।

इसके प्रति प्रयुत्तर में पाकिस्तान सरकार ने 15 जनवरी को ही विवाद के सम्बन्ध में तीन लिखित प्रमाण प्रस्तुत किये। पहले प्रमाण में ही कहा गया कि पाकिस्तान ने कभी भी कबाइलियों के कार्यों को प्रोत्साहित नहीं किया और नहीं ही उन्हें साजो सामान की आपूर्ति की और न ही कभी आक्रमणकारियों को अपनी सीमा का प्रयोग करने दिया। लिखित प्रमाण दो में पाकिस्तान ने भारत पर आरोप लगाया कि वह मुसलमानों को सताने तथा नरसंहार करने के लिए योजनाबद्ध ढंग से काम कर रहा है। उसने जूनागढ़ पर कब्जा करके, पाकिस्तान के विरुद्ध आक्रमण करने और कश्मीर को हड़पने के लिए कश्मीर की जनता को भड़काना शुरू कर दिया है। भारत ने कभी भी हृदय से विभाजन स्वीकार नहीं किया तथा जून 1947 से भारत ने पाकिस्तान को बर्बाद करने का प्रयत्न किया है।

प्रमाण तीन में पाकिस्तान ने कहा कि भारत ने पाकिस्तानी मुद्दों को विस्तृत किया है। इस प्रकार पाकिस्तान ने भारत पर झूठे तथा बेबुनियाद आरोप लगाये। जबकि भारत ने पाकिस्तान पर कभी इस प्रकार के झूठे आरोप नहीं लगाये। सुरक्षा परिषद ने इस समस्या का समाधान करने के लिए पांच राष्ट्रों चेकोस्लाविया, अर्जेन्टाइना, अमेरिका, कोलम्बिया तथा बेल्जियम को सदस्य नियुक्त कर मौके पर स्थिति का अवलोकन करके समझौता कराने के उद्देश्य से भारत-पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र आयोग नियुक्त किया।

भारत पाकिस्तान संयुक्त राष्ट्र आयोग ने तुरन्त अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया तथा मौके पर स्थिति का अध्ययन कर 13 अगस्त 1948 को दोनों पक्षों से युद्ध बन्द करने तथा समझौता करने हेतु निम्नांकित आधार प्रस्तुत किये।

इस सिद्धान्त के आधार पर दोनों पक्षों में लम्बी वार्ता के बाद जनवरी, 1949 को युद्ध बन्द कर देने पर सहमत हो गये और युद्ध विराम लागू हुआ था। उनके द्वारा एक युद्ध विराम रेखा निश्चित की गयी।

युद्ध विराम रेखा निर्धारित हो जाने पर पाकिस्तान के हाथ में कश्मीर का 32,000 वर्गमील क्षेत्रफल चला गया। जिसकी जनसंख्या 7 लाख थी। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को आजाद कश्मीर कहा युद्ध विराम रेखा के इस पार भारत के अधिकार में 53,000 वर्गमील क्षेत्रफल था, जिसकी जनसंख्या 33 लाख थी।

29 दिसम्बर 1948 को सुरक्षा परिषद के कनाडियन अध्यक्ष मैकनाटन ने कश्मीर समस्या को सुलझाने हेतु एक प्रस्ताव रखा। जिसके अनुसार भारत तथा पाकिस्तान दोनों से अपनी सेनाएँ हटाने तथा कश्मीर का विसैन्यीकरण करने के लिए कहा गया ताकि जनमत संग्रह कराया जा सके। चूँकि इस योजना में आक्रमणकारियों तथा आक्रमण के शिकार दोनों राष्ट्रों को एक ही स्तर पर रखा गया था इस कारण भारत ने इसे अस्वीकार कर दिया।

मैकनाटन योजना की असफलता के पश्चात् 24 फरवरी 1950 को सुरक्षा परिषद ने एक और प्रस्ताव पास किया। जिसके अनुसार पाँच महीने में कश्मीर से दोनों पक्षों को सेनाएँ हटाना था। यह योजना दोनों राष्ट्रों में से किसी को भी मान्य नहीं थी, क्योंकि दोनों पक्ष इसे अपने अहित में मानते थे।

कश्मीर की सरकार ने अपना संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा के निर्वाचन की योजना बनायी। इस पर फरवरी 1951 में पाकिस्तान ने कश्मीर के प्रश्न को पुनः सुरक्षा परिषद के सम्मुख रखा। सुरक्षा परिषद ने बिट्रेन तथा अमेरिका के प्रस्तावों पर कश्मीर से दोनों राष्ट्रों की सेनाएँ हटाकर जनमत संग्रह के लिए वातावरण तैयार करने के लिए 20 अप्रैल 1951 को अमेरिकी नागरिक डॉ० फ्रेक ग्राहम को नियुक्त किया। डॉ० ग्राहम ने इस समस्या के समाधान करने के उद्देश्य से दो वर्ष की अवधि में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये परन्तु कोई भी प्रस्ताव दोनों राष्ट्रों को मान्य नहीं हुआ। अतः उन्होंने 27 मार्च, 1953 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट में इस समस्या का समाधान करने हेतु दोनों राष्ट्रों के मध्य प्रत्यक्ष वार्ता का सुझाव दिया।

1953 से 1956 के मध्य संयुक्त राष्ट्र संघ में जम्मू-कश्मीर का प्रश्न दब गया था, लेकिन इस दौरान कई अन्य विकास हुए। जुलाई 1953 में नेहरू की पाकिस्तान यात्रा, शेख अब्दुल्ला को पदच्युत किया जाना तथा उनकी गिरफ्तारी, फरवरी 1954 में राज्य संविधान सभा द्वारा राज्य के भारत संघ में विलय के निर्णय की पुष्टि, 1954 में पाकिस्तान द्वारा सीटो की सदस्यता, 1958 में पाकिस्तान द्वारा सेन्ट्रों की सदस्यता (फलस्वरूप अमेरिकी हथियारों की आपूर्ति) नेहरू द्वारा जनमत संग्रह के वादे से पीछे हटना, कि भारत ने राज्य के विलय के समय जनमत संग्रह का कोई वायदा नहीं किया था। इसलिए पाकिस्तान ने जनवरी 1957 को संयुक्त राष्ट्र संघ में पुनः इस मुद्दे को उठाते हुए कहा कि भारत जम्मू कश्मीर में जनमत संग्रह के वादे से पीछे हट रहा है। 2 जनवरी 1957 को सुरक्षा परिषद को एक पत्र लिखकर सूचित किया कि संयुक्त राष्ट्र के प्रतिनिधि के सुझाव के अनुसार विगत तीन

वर्षों से दोनों राष्ट्रों के मध्य प्रत्यक्ष वार्ता हो रही थी लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला । इसके अतिरिक्त हाल की घटनाओं से स्पष्ट हो गया है कि प्रत्यक्ष वार्ता से कोई लाभ ही नहीं है । इस प्रकार चार वर्षों के उपरान्त कश्मीर का प्रश्न पुनः सुरक्षा परिषद के सम्मुख प्रस्तुत हो गया ।

5 अगस्त, 1957 को पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद में भारत के विरुद्ध निम्नलिखित शिकायतें प्रस्तुत कीं—

1. भारत कश्मीर के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दुओं को बसाकर और राज्य में हिन्दू बहुमत बढ़ाकर जनमत संग्रह को प्रभावित करने का प्रयास कर रहा है।
2. भारत कश्मीर के मुसलमानों पर अत्याचार कर रहा है तथा उन्हें कश्मीर से भागने के लिये बाध्य कर रहा है।

पाकिस्तान के इन आरोपों पर विचार करने के लिये 24 सितम्बर, 1957 को सुरक्षा परिषद की एक बैठक आमंत्रित की गयी। यह बैठक बहुत लम्बे समय तक चलती रही। अन्त में 2 दिसम्बर 1957 को एक प्रस्ताव पारित कर इस समस्या का समाधान करने हेतु फ्रेंक ग्राहम को पुनः नियुक्त करने का निर्णय लिया गया।

फ्रेंक ग्राहम ने 12 जनवरी से 15 जनवरी तक दोनों राष्ट्रों से बातचीत करने के पश्चात् 3 अप्रैल 1958 को अपनी विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की इस रिपोर्ट के मुख्य सुझाव निम्न थे :—

इसके उपरान्त कुछ दिनों तक सुरक्षा परिषद मौन रही 20 अप्रैल 1962 को पाकिस्तानी प्रतिनिधि जफरउल्ला खां ने सुरक्षा परिषद में पुनः इस प्रस्ताव को उठाया तथा 29 जून 1962 को आयरलैण्ड ने समस्या के बारे में सुरक्षा परिषद के सामने निम्नलिखित प्रस्ताव रखे :—

1. दोनों देश संयुक्त राष्ट्र के 13 अगस्त, 1948 के प्रस्ताव के तृतीय भाग के अनुसार कश्मीर में जनमत संग्रह कराने का प्रयास करें।
2. दोनों राष्ट्रों में से कोई भी राष्ट्र ऐसा काम न करे जिससे पारस्परिक शान्ति भंग हो।

भारत के प्रतिनिधि श्री बी.पी. कृष्णमेनन ने आयरलैण्ड के प्रस्ताव का विरोध करते हुए दृढ़ शब्दों में भारत की यह आवाज दोहराई कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग हो चुका है तथा वहां जनमत संग्रह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। लेकिन जब भारत के विरोध के बावजूद आयरलैण्ड का प्रस्ताव पारित होने लगा तो सोवियत संघ ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करके उसे रद्द कर दिया।

जनवरी 1964 में पाकिस्तान के विदेश मंत्री जुल्फेकार अली भुट्टो ने सुरक्षा परिषद की आपात बैठक बुलाने की मांग की। जम्मू कश्मीर के सदर एरियासत का नाम बदलकर अब राज्यपाल कर दिया गया तथा जम्मू कश्मीर की जनता को लोकसभा में सदस्य चुनने का अधिकार दे दिया गया व कुछ केन्द्रीय कानूनों का दायरा बढ़ाकर उन्हें इस राज्य पर भी लागू कर दिया गया।

3 जनवरी 1964 की सुरक्षा परिषद की बैठक में पाकिस्तान पुराने प्रस्तावों को पुनः लागू करने की मांग उठायी भारत के प्रतिनिधि ए.सी. छागल ने निम्नलिखित बिन्दुओं पर जोर डाला —

1. संयुक्त राष्ट्र का जम्मू कश्मीर पर कोई भी प्रस्ताव पुराना पड़ गया है तथा भारत उन्हें नहीं मानेगा।
2. समय एवं परिस्थितियां अब इतनी बदल गयी है कि पूर्व व्यवस्थाएँ लागू करना अब संभव नहीं है।
3. भारत तीसरे पक्ष की मध्यस्थता या पंच निर्णय को स्वीकार नहीं करेगा।

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद बगैर किसी प्रस्ताव पारित किये हुए अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दी गयी। 18 मार्च 1964 को संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद ने भारत तथा पाकिस्तान से इस मुद्दे का समाधान द्विपक्षीय रूप से खोजने को कहा तथा अपनी भूमिका के विचार को त्याग दिया। 24 मई 1964 को सुरक्षा परिषद ने सर्वसम्मत से एक प्रस्ताव पारित करके सम्बन्धित पक्षों से पारस्परिक समझौते द्वारा विवाद समाप्त करने को कहा। इस तरह संयुक्त राष्ट्र संघ में इस मुद्दे पर परदा पड़ गया।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ कश्मीर में कोई निश्चित भूमिका नहीं निभा सका। सुरक्षा परिषद में कभी संयुक्त राज्य अमेरिका ने और कभी सोवियत संघ ने विरोधियों पर वीटों का प्रयोग किया जिससे भारत या पाकिस्तान के विरुद्ध कोई प्रस्ताव पास नहीं हो सका।

अब कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है। शिमला-समझौता (1972) के उपरांत पुरानी युद्ध विराम रेखा बदल चुकी है। शिमला समझौता और उसके बाद अगस्त 1972 की दिलली वार्ता में पाकिस्तान ने नई नियन्त्रण रेखा स्वीकार करती है। शिमला समझौते के उपबन्धों के अधीन कश्मीर के सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र का कोई स्थान नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों की दोषपूर्ण कूटनीति

का प्रभाव संयुक्त राष्ट्र के कार्यान्वयन पर पड़ता है और उसका अच्छा उदाहरण कश्मीर के प्रश्न पर कुछ देशों की पक्षपात पूर्ण व्यवहार है।

I UnHkZ %

1. नूरानी. ए.जी., 1964; "द कश्मीर क्वेश्चंस", मक्तालास पब्लिशर्स, बाम्बे पृ0 1093
2. जे. बन्धोपाध्याय पृ0 153
3. गुप्ता. शिशिर, 1966; "कश्मीर ए स्टडी इन इण्डिया-पाकिस्तान रिलेशन्स" एशिया पब्लिशिंग हाउस, न्यूयार्क, पृ0 144-145
4. मेनन. वी.पी.; "द स्टोरी आफ द इन्टीग्रेशन आफ दि इण्डियन स्टेट्स" लांग मैनस लंदन ।
5. जैन. पुखराज, 2005; "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध" पृ0 333
6. गौड़. राजेन्द्र सिंह, 2002; "भारत-पाक सम्बन्ध आज तक" राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, पृ0 140-141
7. वही, पृ0 142-143
8. वही, पृ0 144-145
9. रैना. दीनानाथ, पृ0 45

ftyk | gdkjh dshh; cfd e; kfnr|
fofn'kk dh forrh; fLFkfr dk
fo'y\$'k. kkRed v/; ; u

plnz ks[kj i k. Ms*

भारतीय कृषकों की अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन साख आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सहकारी केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु मध्य प्रदेश के विदिशा जिले में 'जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित' की स्थापना की गई है। प्रस्तुत शोध पत्र में जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक विदिशा की वित्तीय स्थिति का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। इस हेतु प्राथमिक एवं द्वितीय समकों का उपयोग किया गया है। सभी आवश्यक समंक संबंधित बैंक एवं अन्य शासकीय व अशासकीय संस्थाओं से लिये गये हैं।

i Lrkouk

भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सहकारी साख संस्थाओं के माध्यम से जो साख सुविधा प्रदान की जाती उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है- अल्पकालीन, मध्यमकालीन एवं दीर्घकालीन। प्रथम दो, प्रकार की साख का प्रवाह राज्य सहकारी बैंक, केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा प्राथमिक कृषि साख समितियों के माध्यम से होता है। जबकि दीर्घकालीन साख का वितरण भूमि विकास बैंको के माध्यम से।

भारत में सहकारी साख का अल्पकालीन तथा मध्यमकालीन साख उपलब्ध कराने वाली संस्थाओं का ढांचा त्रिस्तरीय है। प्रत्येक राज्य में शीर्ष पर राज्य सहकारी बैंक, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक कृषि साख समितियां स्थापित हैं। सभी राज्यों में सहकारी बैंकिंग व्यवस्था का अल्प तथा मध्यमकालीन साख ढांचा एक समान है। 1912 में सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई कि केन्द्रीय सहकारी बैंक कृषकों द्वारा

संचालित ग्रामीण स्तर पर स्थापित प्राथमिक कृषि साख समिति तथा राज्य सहकारी बैंक के मध्य मध्यस्थ के रूप में कार्य करती रहें।

मध्यप्रदेश में सर्वप्रथम केन्द्रीय सहकारी बैंक सीहोरा में 1904 में कार्य प्रारंभ किया जिसका पंजीकरण 22 जून 1907 को हुआ इसके बाद बैतूल एवं अपोला में केन्द्रीय बैंकों की स्थापना की गई।

वर्तमान जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित विदिशा मध्यप्रदेश सहकारी सोसायटी अधिनियम 1960 के अंतर्गत पंजीकृत है, अभी तक बैंक में प्रगतिशील 94 वर्ष पूर्ण कर लिये हैं। बैंक की सदस्य संख्या बढ़ते हुये 21 मार्च 2012 तक 23,964 हो गई।

v/; ; u dk vkfpr;

जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित, विदिशा की 5 वर्षों (वर्ष 2007-08 से 2011-12) तक की तुलनात्मक वित्तीय स्थिति का अध्ययन करने के लिये शोध विषय का चुनाव किया गया है।

v/; ; u ds mnns ;

प्रस्तुत विषय में तुलनात्मक वित्तीय स्थिति के विश्लेषण को आधार मानकर अध्ययन के विषयों को निर्धारित किया गया है।

- * केन्द्रीय सहकारी बैंक का अध्ययन करना।
- * जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित विदिशा की वित्तीय स्थिति का अध्ययन करना।
- * बैंक की तुलनात्मक वित्तीय स्थिति का विश्लेषण करना।

'kk/k i fof/k

प्रस्तुत शोध पत्र में विदिशा जिले के केन्द्रीय सहकारी बैंक का अध्ययन किया गया है। इस शोध हेतु आवश्यक समंक जैसे बैंक के वार्षिक प्रतिवेदन, संदर्भित पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाओं आदि के आधार पर विवरणात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। आवश्यक जानकारी बैंक के अधिकारियों, कर्मचारीयों तथा क्षेत्र विशेष में अनुभव रखने वाले व्यक्तियों से वार्तालाप के माध्यम से एकत्रित की गई है।

शोध की सीमाएँ:-

- * अध्ययन हेतु केवल जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित विदिशा को चुना गया है।
- * केवल 5 वर्षों की तुलनात्मक वित्तीय स्थिति का अध्ययन किया गया है।

v/; ; u dk {k=

इस शोध विषय के अध्ययन में जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित विदिशा की वित्तीय स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वर्ष 2007-08 से लेकर 2011-12 तक बैंक की वित्तीय स्थिति किस तरह प्रभावित हुई है, का अध्ययन किया गया है। इस हेतु केवल विदिशा जिला ही लिया गया है

जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित, विदिशा की 5 वर्षीय तुलनात्मक वित्तीय स्थिति

तालिका क्रमांक 1.1

(वर्ष 2007-08 से 2011-12 तक)

राशि लाखों में

क्र.	विवरण	2007- 2008	2008- 2009	2009- 2010	2010- 2011	2011- 2012
1	प्रदत्त पूंजी	1323.35	1847.78	2178.34	2429.84	3658.70
2	कोष एवं निधियाँ	3391.55	3710.37	3943.39	4184.93	4864.35
3	अमानतें	17314.00	20421.80	24530.51	29335.48	41733.87
4	स्वयं के साधन	22028.90	25979.95	30652.24	35950.25	50256.92
5	गृहित ऋण	4919.38	7006.93	11234.12	12632.68	22425.10
6	कार्यशील पूंजी	28337.65	34583.69	43533.52	50540.68	74464.64
7	वर्ष का लाभ	३३१२.०२	३३५७.८४	३२२८.८५	३७८२.७९	३४१८.१३
8	वसूली का प्रतिशत	72.56%	81.36%	78.14%	83.46%	85.11%
9	विनियोग	8290.76	10379.61	10119.73	14305.89	11005.76
10	वर्षान्त का शेष कुल ऋण	18081.21	21475.90	28598.93	31876.60	48485.94
11	कालातीत ऋण	5578.97	5675.95	7454.58	6543.89	8582.39
12	अंकेक्षण वर्गीकरण	'क'	'क'	'क'	'क'	'क'
13	सदस्य सहकारी समितियों की संख्या	294	294	294	287	287

(स्रोत जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित, विदिशा)

उपरोक्त तालिका देखने से स्पष्ट होता है कि बैंक सफलता की पहचान है।

ftyk l gdkjh dlnh; cfd e; kfnr] fofn'kk rnyukRed
foRrh; fLFkfr dk fo'y\$'k.k

तालिका क्रमांक 1.2

(वर्ष 2007-08 से 2011-12 तक) (+वृद्धि, -कमी) प्रतिशत में

क्र.	विवरण	2007-2008	2008-2009	2009-2010	2010-2011	2011-2012
1	प्रदत्त पूँजी		39.62	17.88	11.54	50.57
2	कोष एवं निधिया		9.4	6.2	6.1	16.23
3	अमानतें		17.94	20.11	19.58	42.26
4	स्वयं के साधन		17.93	17.98	17.28	39.79
5	गृहीत ऋण		42.43	60.32	12.44	77.51
6	कार्यशील पूँजी		22.04	25.87	16.09	47.33
7	वर्ष का लाभ		14.68	36.04	242.05	46.58
8	वसूली का प्रतिशत		8.8	3.22	5.32	1.65
9	विनियोग		25.19	2.5	41.36	23.06
10	वर्षान्त का शेष कुल ऋण		18.77	33.16	11.46	52.10
11	कालातीत ऋण		1.74	31.33	12.21	31.15

जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक की विश्लेषण तालिका से स्पष्ट होता है कि 2007-08 को आधार वर्ष मानकर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उसके अनुसार प्रदत्त अंशपूँजी में 2007-08 से 2011-12 तक प्रतिवर्ष क्रमशः 39.62, 17.88, 11.54 तथा 50.57 प्रतिशत की तुलनात्मक वृद्धि हुई है जो बैंक की प्रगति का सूचक है बैंक की अंशपूँजी, सहकारी समितियाँ, राज्यशासन, नाम मात्र के सदस्य, आई.सी.डी.पी. से बनती है। इन 5 वर्षों में वर्ष 2011-12 में सर्वाधिक प्रभावी प्रभावी दर से वृद्धि हुई। इसी प्रकार कोष एवं निधियों में भी क्रमशः 9.4, 6.2, 6.1 एवं 16.23 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। वर्ष 2008-09 में लगभग 9.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई लेकिन 2009-10 एवं 2011-12 में यह प्रतिशत घटकर क्रमशः 6.2 एवं 6.1 प्रतिशत रह गया। लेकिन अगले ही वर्ष यह प्रतिशत बढ़कर 16.23 हो गया। 17.94, 2.11, 19.58 एवं 42.26 प्रतिशत की वृद्धि अमानतों में दर्ज की गई जो यह दर्शाती है कि बैंक के सदस्यों के साथ अन्य व्यक्तियों का भी बैंक अमानतों के प्रति रुझान बढ़ा है बैंकिंग व्यवसाय की दृष्टि से यह उचित कहा जा सकता है। स्वयं के साधनों में भी वर्ष 2011-12 में लगभग 39.79 प्रतिशत की वृद्धि हुई एवं बैंक के गृहीत ऋण जो नाबार्ड की स्वीकृति के अन्तर्गत अपैक्स बैंक के माध्यम से प्राप्त किया जाता है में वर्ष 2007-08 से 2011-12 तक क्रमशः 22.04, 25.87, 16.09 एवं 47.33 प्रतिशत बढ़ती गई सर्वाधिक 47.33 प्रतिशत की वृद्धि 2011-12 में

2010-11 की अपेक्षा अर्थात् 23923.96 लाख रुपये की वृद्धि हुई है। वर्ष 2007-08 की अपेक्षा 2008-09 में बैंक का लाभ

14.68 प्रतिशत अधिक रहा लेकिन वर्ष 2009-10 में इसमें 36.04 प्रतिशत की तुलात्मक कमी दर्ज की गई। अगले ही वर्ष इसमें सुधार होते हुए बैंक रिकार्ड लाभ प्रतिशत 242.05 के साथ उभर कर सामने आया। वर्ष 2011-12 में लाभ में 46.58 प्रतिशत की तुलनात्मक कमी दर्ज की गई। लेकिन बैंक को 418.13 लाख का शुद्ध लाभ प्राप्त हुआ। उसी प्रकार बैंक के वसूली प्रतिशत में वर्ष 2007-08 की अपेक्षा 2008-09 में 8.8 प्रतिशत वृद्धि 2009-10 में 3.22 प्रतिशत की कमी एवं अगले वर्षों में क्रमशः 5.32 व 1.65 प्रतिशत की तुलनात्मक वृद्धि दर्ज की गई। इन 5 वर्षों में बैंक के विनियोगों में सुधार हुआ। लेकिन 2009-10 एवं 2011-12 में क्रमशः 2.5 एवं 23.06 की तुलनात्मक कमी दर्ज की गई। बैंक के शेष कुल ऋणों में से वर्ष 2011-12 में 52.10 प्रतिशत की तुलनात्मक वृद्धि हुई साथ ही कालातीत ऋणों में भी 1.74, 31.33 प्रतिशत तुलनात्मक वृद्धि तथा 12.21 प्रतिशत कमी एवं 31.15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अतः बैंक को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

fu"d"kl , oa l pko

जिले में सहकारी केन्द्रीय बैंक की स्थापना कृषकों की अल्पकालीन एवं मध्यमकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु की गई है, यह दायित्व बैंक पूरी ईमानदारी से निर्वाह कर रहे हैं। इसी कारण यह साख पूर्ती का सशक्त माध्यम बने हुये हैं, बैंक की वित्तीय स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि बैंक निरंतर प्रगति कर रहा है। विशेषकर वर्ष 2001-12 में इसकी वित्तीय स्थिति में सर्वाधिक सुधार हुआ है इसी कारण बैंक की 97 वीं वार्षिक साधारण सभा ऐतिहासिक व अभूतपूर्व रही। इसमें अंशधारियों को अंशपूँजी में वृद्धि के कारण 3.25 प्रतिशत की दर से लाभांश देने की घोषणा की गई। जिसमें 114.36 लाख रुपये सदस्य संस्थाओं को तथा 2.34 लाख रुपये राज्य शासन को दिया जा रहा है अर्थात् कुल 116.70 लाख का लाभांश वितरित किया जावेगा। बैंक की कोष एवं निधियाँ, अमानतें तथा कार्यशील पूँजी में वृद्धि के साथ ही बैंक के ऋण व्यवसाय में विगत 5 वर्षों में लगभग 5 गुना वृद्धि हुई है। वर्ष 2011-12 में 398.72 लाख का आयकर चुकाने के बाद भी बैंक को 418.13 लाख रुपये का शुद्ध लाभ हुआ। कालातीत ऋण में वर्ष 2011-12 में तुलनात्मक रूप से 12.21 प्रतिशत की कमी दर्ज की गई। जो बैंक का सर्वाधिक मजबूत पक्ष हैं। बैंक की वसूली भी 85.11 प्रतिशत रही यह वृद्धि दर बैंक के विकास व विश्वास तथा सहकारिता की मजबूती का

प्रत्यक्ष प्रमाण है इसी कारण बैंक को विगत कई वर्षों से अंकेक्षण वर्गीकरण में "अ" श्रेणी में आ रहा है। अतः कहा जा सकता है कि बैंक की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ हैं। वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखने हेतु कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

- * कृषि विकास के संबंधित तथा बैंक की योजनाओं से संबंधित विषय पर कार्यशालाओं का आयोजन किया जाना चाहिए।
- * कृषकों को कृषि की नवीन तकनीकियां जिनसे कृषि विकास में वृद्धि होती है के प्रयासों हेतु प्रोत्साहन देना चाहिए।
- * बैंक को ग्रामीण विकास योजनाओं पर ध्यान देना चाहिए एवं वहां गैर खेतिहर कामों का विस्तार करना चाहिए।
- * सरकार द्वारा ऋण माफी के कारण ऋण वसूली में गिरावट आती है अतः इस हेतु कृषकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। जो कृषक नियमानुसार ऋण वापसी कर रहे हैं उनका ऋण माफी की स्थिति से सामंजस्य स्थापित किया जाना चाहिए।
- * शहरी जनता को अपनी बचतें इन बैंकों में जमा करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए।
- * प्राप्त ऋण और देय ऋणों की ब्याज दर में अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए।

I nHkZ

- 1 जैन. डॉ. खेमचंद्र, 2006; कृषि वित्त सिद्धांत एवं अध्ययन, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ0 15
- 2 कुमार. डॉ. राजीव, कम्पनी लेखांकन, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 22
- 3 चतुर्वेदी. विनायक, 2011; ग्रामीण विकास, जयपुर, पृ0 63
- 4 जानमियां 2011; वित्तीय प्रबंध, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ0 74
- 5 वार्षिक प्रतिवेदन, जिला सहकारी केन्द्रीय बैंक मर्यादित, विदिशा वर्ष 2007-08 से 2011-12 तक।
- 6 जिला विकास पुस्तिका, जिला सांख्यिकी कार्यालय, विदिशा, 2011
- 7 कृषक जगत, कृषक भवन, भोपाल।
- 8 दैनिक भास्कर, भोपाल, दिनांक 27/12/12
- 9 नई दुनियाँ, इन्दौर, दिनांक 20/11/12

xhrk ea fo"kkn ; ksx dh fLFkfr

I j t i d k ' k x d r *

यह विज्ञ तथ्य है कि श्रीमद्भगवद्गीता हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें श्रीकृष्ण ने युद्धस्थल में विषादग्रस्त अर्जुन को आचारशास्त्रीय उपदेश दिया है। गीता में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश समस्त मानवता के लिए एक आदर्श के रूप में उपस्थित होता है। क्योंकि यह सम्पूर्ण जनमानस के धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ एवं कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय को प्रभावित करता है। प्रस्तुत शोध पत्र में हम गीता में विषाद योग की स्थिति की चर्चा पर आग्रही होंगे। जैसा कि हम जानते हैं कि गीता का प्रथम अध्याय विषाद योग के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि अर्जुन मोह की स्थिति उनकी अपनी स्वतन्त्रेच्छा का परिणाम नहीं था। उन्होंने जैसा महसूस किया और कहा, वह गीता की तत्व-मीमांसीय पृष्ठभूमि के अनुरूप ही है जिसमें व्यक्ति की इच्छा-शक्ति के लिए और उसके स्वतन्त्र प्रयोग के लिए बहुत कम अवसर है। अर्जुन में जो कुछ दिख रहा है वह कर्म करने- न करने का संकल्प-विकल्प नहीं है अपितु विषाद और मोह है जो तम् गुण के असामयिक उत्पन्न होने का परिणाम है। यह अर्जुन के सत्व-रजस् प्रधान क्षात्र-स्वभाव से मेल नहीं खाता। इसीलिए देश-काल परिस्थिति के ज्ञाता श्रीकृष्ण इसे 'विषम में उपस्थित होने वाला विकार (कश्मल)' कहते हैं और ऐसे तात्कालिक परिवर्तन को महत्व देना श्रेयस्कर नहीं मानते।

अर्जुन को जब यह इच्छा हुई कि वे देखें कि उन्हें किन-किन से युद्ध करना है तो उस समय उनमें द्वेष-भाव है।' किन्तु युद्ध स्थल में सगे-सम्बन्धियों को देखकर उनके मन में दया उपजी और फलतः विषाद हुआ। मनोभाव के बदलते ही कुछ शारीरिक लक्षण उत्पन्न हुए जिनको उन्होंने श्रीकृष्ण को बताया और यथारूप उन्होंने उसे नोट भी किया। इस परिवर्तन के साथ ही अर्जुन का देखने का ढंग (टपेपवद) भी बदल गया। अब उन्हें

* एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, बाबा राघवदास भगवानदास पी0जी0 कालेज, आश्रम-बरहज, देवरिया

अपशकुन दिखने लगा और स्वजनों को मारने में अपना अकल्याण भी। अनन्तर, वैराग्य का भाव आया, भय का नहीं अर्थात् उनका मूलक्षात्र—स्वभाव या मुख्य—प्रवृत्ति दृढीभूत रही।

उनकी विचार—प्रक्रिया को देखना और भी रुचिकर है। उनके सोचने का ढंग एकदम स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक स्तर पर ठीक—ठीक 'मनुष्य—भाव' में है। उनकी बुद्धि सजग हो गयी है। वह यथार्थ से अलग होकर नहीं सोच रही है तो भी अपने चरित्र के अनुसार काम कर रही है। वह समस्त दृष्टिकोणों से युक्त होकर सोच रही है। उदारणार्थ—अर्जुन सीधी लाइन में यह सोचते हैं कि जिनके लिए राज्य—भोग सुख इच्छित होता है उन्हें ही मार देना है, तो साधारण बात होती पर वह असाधारण रूप से बौद्धिक होकर, दूसरे छोर से सोचना आरम्भ करते हैं—कि वे ही लोग अपने धन—दौलत, सुख—चैन को छोड़कर, अपने प्राणों की भी परवाह न करके युद्ध करने आये हैं। उन सुखों की रक्षा के लिए प्राण देने—लेने आए हैं। जिन्हें स्वजन समझते थे वे ही शत्रु रूप में सामने हैं। यह स्थिति उन्हें विचलित करने लगी जिससे उनके सोच की दिशा एवं दशा बदल गयी। क्षात्रोचित् उत्साह की जगह कृपयाविष्ट (दयाविष्ट) हुए। 'मैं मारा जाऊँ तो भी, धरती क्या तीनों लोकों का राज्य भी मिल जाय तो भी, मैं इन्हें नहीं मारता।' 'इन्हें मारने से लाभ भी क्या? पाप ही हाथ लगेगा।' मोह बढ़ा—'स्वजनों को मारकर सुखी कैसे रह पाऊँगा?' और अन्त में निश्चय किया कि युद्ध (कर्म) नहीं करूँगा।

अर्जुन ने बुद्धि के धरातल पर तो यह ठीक सोचा कि बन्धु—बान्धवों को मारने से अनिष्ट होगा, पाप लगेगा। इस समय स्वजन लोभवश कुल—नाश, मित्र—द्रोह आदि पातक को नहीं देख पा रहे हैं लेकिन मेरी बुद्धि तो ठीक है, मैं तो देख रहा हूँ। यह सब जानबूझकर भी, इस पाप से क्यों न निकला जाय? बुद्धि की यह सलाह ठीक भी है लेकिन कर्तव्य कर्म या विधि—निषेध (क्या करना चाहिए—क्या नहीं करना चाहिए) के निर्धारण में इतना ही पर्याप्त नहीं है। यही गीताकार यहाँ दिखाना चाहते हैं। बुद्धि कार्याकार्य के निर्धारण में परिणाम सोचती है। परिणामों की श्रृंखला अनन्त तक चलती है और दो—रुखा होती है। उन सबका आकलन कर सकना सामान्य व्यक्ति के लिए तो असंभव ही है। बहुत बौद्धिक व्यक्ति भी कुछ दूर तक ही उन्हें देख—सोच सकता है। परिणामों की शाखा—प्रशाखाओं की अनन्त बहुलता में बुद्धि स्वयं ही उलझ जाती है। इतने उपस्थित लोगों में अर्जुन ही थे जो इतना सोच पाये। किन्तु बुद्धि के इस कार्यक्रम में, कर्तव्य—निर्धारण में, जो गड़बड़ी हुई वह यह कि जैसा कि उसका

स्वभाव है, बुद्धि एक समय में एक तरफ ही सोचती है और उसी पर आगे और आगे सोचती जाती है। इस क्रिया में वह सभी संभावनाओं पर विमर्श भी करती है फिर भी कुछ है जो छूट जाता है और बहुत कुछ छूट जाता है। वह विभु नहीं है सीमित है।¹⁰ सबको एक साथ नहीं देख पाती। इसे हम टार्च के उदाहरण से समझ सकते हैं। जैसे टार्च का प्रकाश जिधर पड़ता है उधर ही प्रकाशित करता है बाकी जगह अंधेरा रहता है। भले ही टार्च—वाहक घुमा—घुमा कर देखे। सभी संभावनाओं की तरफ उसका रुख करे, प्रकाश अपनी लाइन में ही चलता है। वह सर्वप्रकाश नहीं। गीता कहती है कि यही बुद्धि जब मोहपाश से मुक्त हो जाती है तो 'समग्रता' में काम करने लगती है।¹¹

प्रसंगावलोकन से यहाँ स्पष्ट होता है कि अति बौद्धिक क्षमता से सम्पन्न अर्जुन के चिन्तन में एक त्रुटि अवश्य है, वह यह कि वे स्वजनों को मारना पाप तो समझ रहे हैं, कुल—नाश से होने वाले परिणामों को भी भांप लिया है और हमें लग सकता है कि तत्त्व का पर्याप्त विवेचन कर ले रहे हैं, 'क्या करना चाहिए' के सही निर्णय पर है किन्तु ऐसा है नहीं। उनकी चूक यह है कि वह स्वजनों को आततायी तो मान रहे हैं लेकिन उनके प्रति ममता से आसक्त हैं। आततायी का विनाश करना पुण्य कार्य है जिसे वह परिस्थिति से अनुकूलन न कर पाने के कारण पाप समझ लेते हैं (उलटा)। उनकी बुद्धि सामान्य ढर्रे पर ठीक कार्य कर रही है किन्तु 'विशेष' परिस्थिति की इतनी सी बात को लॉघ जा रहे हैं। क्या आततायी स्वजन हो तो उस पर दया कर देनी चाहिए? क्या इनके बौद्धिक—विमर्श के लिए यह सार्वभौम लाइन नहीं है कि भले ही कुल नाश हो जाय, पिण्ड आदि की हानि हो जाय, परिणाम कुछ भी हो, उचित यही है कि अगर व्यक्ति आततायी है (चाहे स्वजन ही क्यों न हो) उसे सत्य, धर्म और लोग कल्याण के लिए मार ही देना चाहिए। लेकिन उनकी बुद्धि ने इधर सोचने का उपक्रम नहीं किया और इसीलिए वह स्वजन—मोह में फँस गये। सत्य और न्याय को गौण समझ कर बन्धु—मोह और कुल—नाश की (जो सही और स्वाभाविक जरूर है लेकिन 'न्याय' (श्रनेजपबम) के लिए जिसका पक्षपात त्याज्य होना चाहिए) ही परवाह कर बैठे।

यही कारण है कि उनकी सारी परिस्थिति मनुष्य भाव में स्वाभाविक होते हुए भी, उनका तर्क, दूर—दृष्टि और परिणामों का आकलन आदि सब कुछ अपनी जगह पर सही होते हुए भी, उन्हें धर्मज्ञ श्रीकृष्ण की भर्त्सना सुननी पड़ी—अशोचनीय चीजों को सोच रहे हो, पंडिताई भी दिखा रहे हो।¹² आततायी को छोड़ने में अर्जुन धर्म समझ रहे हैं। कर्तव्य के निर्धारण में स्वजन के पक्षपात से 'प्रेरित बुद्धि' हो

रहे हैं। 'न्याय' और 'सत्य' जो धर्म (आचार) की आधारशिला है, उनसे हट रहे हैं और ऊपर से नुकसान दिखाकर उपयोगितावादी या परिणामवादी जैसे बन रहे हैं। परिणाम देखना बुरा नहीं लेकिन वही पर्याप्त नहीं। देश-काल परिस्थिति विशेष में कर्तव्य-कर्म के निर्धारण में क्या बुद्धि के सार्वभौम आकारिक निर्देश जैसा कि काण्ट मानते हैं, हमारा निर्देशन कर पाने में पर्याप्त है? नहीं। गीता ऐसी स्थिति बनाकर विशेषज्ञ श्रीकृष्ण द्वारा घोषित कराती है—

BdqrLrok d'eyfena fo"kes l eq fLFkreA
vuk; It(VeLoX; bdlfrdjetqAAp⁹

अर्थात् 'यह सब तुम्हारे स्वभाव के विपरीत असमय में कैसे उपस्थित हो गया?' यहाँ 'विषम' शब्द ध्यान देने योग्य है और उससे भी ज्यादा 'अनार्य' शब्द। 'आर्य' में रजस् और उससे भी श्रेष्ठ (उर्ध्वगामी) गुण सत्व का संकेत हो रहा है और श्लोक में गिनाए गये तीनों परिणाम 'तमस्' बुद्धि के मालूम पड़ रहे हैं।

गीता की तत्वमीमांसीय बुनावट में पूरे प्रकरण से यह समझ में आता है कि ईश्वर की परा और अपरा दोनों 'प्रकृति' (छंजनतम) से बना हमारा (भूत या क्षर पुरुष का) 'स्वभाव' तीनों गुणों से गठित और परिचालित है। इसमें स्थायित्व भी है, ऊपर से परिवर्तन भी। गीता की भौतिकी के अनुसार पाँचों महाभूत तो जड़ तत्व हैं ही, मन, बुद्धि और अहंकार को भी जड़ प्रकृति में शामिल किया गया है। इस तात्त्विक योजना में नीचे से ऊपर का ग्रेड है जो जितने नीचे है उतना ही उसमें तमस् है। गुण सतत् प्रवाहमान है। उसमें विक्षोभ हो रहा है, उठा-पटक चल रही है। कभी कोई प्रभावी हो सकता है कभी कोई। लेकिन यह स्थिति स्थायी नहीं रहती। जैसे, अर्जुन के स्वभाव में आया तात्कालिक परिवर्तन। फिर भी गीता मानती है कि मूल स्वभाव जो है सो है। उसमें फेर-बदल लाना संभव तो है लेकिन आसान नहीं है। तभी तो श्रीकृष्ण ने आगे कहा—'भागना चाहते हो, तो भागो। भाग नहीं पाओगे। प्रकृति खींच कर तुम्हें वापस लायेगी और तुम लड़ोगे।'¹⁰ प्राणी अपनी प्रकृति नहीं छोड़ पाता और इसमें संयम नियमन (निग्रह-रोकथाम) भी काम नहीं करता।¹¹ वस्तुतः व्यक्ति कुछ नहीं करता। 'सारे कार्य प्रकृति द्वारा ही किए-कराये जा रहे हैं।'¹² तीनों गुणों वाली प्रकृति ईश्वर की अध्यक्षता में काम कर रही है। सामान्य गति से जो विकास-क्रम चल रहा है वह यान्त्रिक और चक्रीय है। उसमें व्यक्ति और उसके कर्म चौखटे में जकड़े हुए हैं। व्यक्ति की स्वतंत्र-इच्छा विश्व घटना-क्रम में न तो कारक है और न तो महत्व रखती है। क्योंकि वह गुणों के दबाव में तदवत् कर्म करने के लिए विवश है। इतना ही नहीं गीता

यह भी बताती है कि स्वयं जगत नियन्ता सभी प्राणियों के अन्दर बैठा सबको अपनी व्यवस्था (माया) द्वारा घुमा रहा है जैसे यन्त्रारूढ़ लोग घुमाए जाते हैं।¹³ और यह उसकी व्यवस्था इतनी सुदृढ़ है कि उसे दुरत्यय (जिसे पार पाना मुश्किल हो) कहा गया है—

Bnbh g; S'kk xqke; h ee ek; k ngR; ; kA
ekeda ; s i i | Urs ek; kerka rjflr rAA^{14p}

यहाँ एक महत्वपूर्ण सूचना है, व्यक्ति के चाहने की बात। व्यक्ति चाहे तो मेरी शरण ले ले और इस दुष्क्र से बच निकले लेकिन यह इतना आसान नहीं है। क्या व्यक्ति का यह चाहना अपने वश में है? उसके पूर्व कर्मों, संस्कारों से बनी उसकी प्रवृत्ति, उसकी प्रकृति, उसके वर्तमान कर्मों की प्रेरक जो है। अर्थात् वह चुनाव में एकाएक स्वतन्त्र नहीं है। यह स्वतंत्रता उसे अभ्यास और वैराग्य से धीरे-धीरे मिल सकती है, मन को वश में रखने पर बुद्धि को स्थिर करने पर और व्यक्तिगत कामना के त्याग (निष्काम भाव) पूर्वक कर्म करने पर। उसके प्रयास के लिए स्थान तो है लेकिन वह अपने अहं को वैयक्तिक इच्छा-आकांक्षा को, ईश्वरेच्छा में विलीन कर दे, जिसका गीता बार-बार सुझाव देती है।

I UnHkz %

1. गीता, अ० 1. 23
2. वही, अ० 1. 35
3. वही, अ० 1. 36
4. वही, अ० 1. 37
5. वही, अ० 1. 38-39
6. वही, अ० 7. 4
7. 'यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गंतासि निर्वेदं श्रोत्वस्य श्रुतस्यव।। वही, अ० 2. 52
8. वही, अ० 2. 19
9. वही, अ० 2. 2
10. वही, अ० 18. 59-60
11. वही, अ० 3. 33
12. वही, अ० 13. 29
13. वही, अ० 18. 61
14. वही, अ० 7. 4

Sense of Deprivation and Self Concept Among School Going Children-A Sociological Study

Sunita Pandey*

Abstract

Deprivation refers to certain deficiencies in the environment, which not only exist but are also experienced as such by individuals. Sense of deprivation may lead to formation of poor or negative self-concept which may adversely affect behaviour of an individual. Present study is an attempt to study sense of deprivation among school going children and to find its effect on their self-concept. This is an empirical study based on a sample of 220 school going children in age group 14-16 years selected randomly in Varanasi. This study leads to valuable findings.

Key Concepts: Deprivation, Sense of deprivation, number of siblings, self-concept

Deprivation:

Etymologically, the word 'deprivation' is derived from the verb 'to deprive' which means to dispossess or strip (a person or an object) and it implies a 'felt loss'. Obviously, it refers to certain deficiencies in the environment; which are not only present there but are also experienced as such by the individuals. Like the narrower notion of poverty, deprivation can be viewed in absolute or relative terms. Absolute deprivation refers to the loss or absence of the means to satisfy the basic needs for survival—food, clothing, and shelter. Relative deprivation is the experience of being deprived of something to which one believes oneself to be entitled. It refers to the discontent people feel when they compare their positions to others and realize that they have less of what they believe themselves to be entitled than those around them.

Sense of Deprivation

The conditions of deprivation, both absolute and relative, engender in the child a sense of deprivation, a feeling that he is not getting what he ought to get—adequate food shelter and clothing, a minimum of physical facilities for recreation and enjoyments, opportunities for interaction with the people as a responsible member of the group, reciprocation of emotions, opportunity to love and to be loved etc. The non-satisfaction of these needs drive him to seek these satisfactions and a failure in the endeavor cause the feeling that he is being dispossessed of his rightful claims in the society. This feeling is developed perhaps in an environment of disparity in socio-economic status; in the quantum of love and affection, social recognition and opportunities for progress. Thus we can assume that sense of deprivation has a psycho-social origin.

Self-Concept

The term self-concept refers to the ordered set of attitudes and perceptions that an individual holds about him/ her (Wolffe 2000; Woolfolk 2001). Self-concept is defined as the value that an individual places on his or her own characteristics, qualities, abilities, and actions. The self-concept comprises three main elements: the identity of the subject or self-image, referred to as the perceptions of him/herself; self-esteem, which is related to the value individuals attach to the particular manner in which they see themselves; a behaviour component, reflecting how self-concept influences and formulates the individual's behaviour.

Objectives

1. To find nature and extent of sense of deprivation among school going children.
2. To study the relationship of sense of deprivation with the selected variables such as sex, number of siblings in the family and birth order.
3. To investigate the effect of sense of deprivation on the self-concept of the children.

Hypothesis

On the basis of logical reasoning and reviewing the findings of various investigators in this field, the following hypothesis was framed:

1. There is no difference in sense of deprivation among male and female students.
2. There is a significant positive correlation between number of siblings and sense of deprivation.
3. There is a significant positive correlation between birth order and sense of deprivation.
4. High deprived students have low and negative self-concept in comparison to low deprived students.

Methodology

This study is an attempt to ascertain the consequence of sense of deprivation on self-concept and variation in nature and extent of sense of deprivation with respect to moderating variables like sex, number of siblings and birth order. A sample of 220 students was randomly selected from six schools of Varanasi city by random sampling technique. The age of the respondents ranged from 14 to 16 years. Sense of deprivation was conceived in two situations, viz. home and school situation. The tool used to measure sense of deprivation was 'self – expression inventory' developed by UshaUpadhyaya(1982). The other tool used to measure the self – concept among students was 'swatvabodhprikshan' by G.P. Sherry, R.P. Verma and P.K.Goswami.

Product-moment coefficient of correlation was worked to find out the nature and extent of relationship of sense of deprivation with the selected variables. 't' test was used to find the significance of difference between any two means on the criterion.

Findings

The first objective of the study was to find out the nature and extent of sense of deprivation among the students. It was observed with respect to basic data, extent of sense of deprivation in home and school environment. **The extent of sense of deprivation:** was measured by the range of scores obtained by the subjects on the self-expression inventory, the tool used to measure, sense of deprivation and the maximum possible score which the scale was capable of yielding. It was observed that scores of none of the students reached the maximum, which indicated that the students did not have a very severe sense of deprivation as measured by the tool used .The mean sense of deprivation was 29.19 and it standard error was 0.82.

Table: showing the frequency distribution of scores on sense of deprivation scale

S.no.	Class interval	Frequency
1.	0-9	15
2.	10-19	35
3.	20-29	55
4.	30-39	74
5.	40-49	34
6.	50-59	08

When the extent of sense of deprivation in the home and school situation was compared, it was found that the sense of deprivation in the home situation was significantly higher than in school situation.

The second objective of the study was to find out the relationship of sense of deprivation with the selected variables viz., sex, number of siblings and order of siblings in the family.

As regard sex; it was found that the girls had significantly higher sense of deprivation the boys.Again, number and order of sibling in the family were positively and significantly correlated with sense of deprivation, since sense of deprivation of the subject decreased as the number of siblings decreased.

Table: showing the sense of deprivation of boys and girls

Groups	N	Mean	Standard deviation	Critical ratio
Boys	95	29.56	13.90	2.77
Girls	125	32.40	10.33	

Sense of deprivation and number of siblings

Coefficient of correlation between sense of deprivation and number of siblings was worked out and the obtained correlation based on the sample was found to be 0.37.The correlation is positive and significant.

Sense of deprivation and order of siblings

A very low but significant positive correlation of 0.18 was obtained. This shows that the first born children experience less deprivation in comparison to later one as they get more attention of the parents.

Sense of deprivation and self-concept

The third objective of the study was to find out the effects of the sense of deprivation on self-concept of the subjects. Coefficient of correlation was computed. The value of correlation was found to be -1.98 which is negative and significant at 0.05 levels. It means that high sense of deprivation is associated with poor self-concept and the low sense of deprivation with good and favourable self-concept. It was found that the self-concept was negatively and significantly correlated with sense of deprivation.

Table: showing the significance of difference between the means of self-concept of high and low deprived groups.

Deprived groups	N	Mean	Standard deviation	Critical ratio
High deprived	6	30.21	4.82	2.62
Low deprived	12	36.68	5.20	

On the basis of the results obtained it can be said that high sense of deprivation go hand in hand with poor and negative self-concept and the low sense of deprivation with favourable self-concept.

Conclusions

The findings of this research lead to the following conclusions.

1. It has become evident that sense of deprivation is a viable construct that could be measured; interpreted and used to explain the poor self-concept of the students.
2. The role of sex as a moderator in the development of sense of deprivation was found.
3. It was further concluded on the basis of the study that sense of deprivation tends to make the self-concept of the students poorer.

Limitations

1. Study did not actually probe into the deficiencies caused by actual deprivation. It only studies the construct in relation to a few variables which throw some light on its nature.
2. This study is confined to sense of deprivation as perceived in relation to certain selected variables only. The study was conducted on small sample of 220 students and the conclusion drawn is based on analysis and interpretation of the data collected from the sample and has been reported as it was found. The data obtained may not be reliable for generalisation.
3. The generalisation of this investigation drawn on the basis of the findings is applicable to the sample used in this study.

4. All the findings of this investigation, based on the data collected should be treated as approximate. They are simply probable estimates.

Social Implications:

Social implications of sense of deprivation and self-concept may give us a valuable insight into the fact that how sense of deprivation leads to negative self-concept which subsequently leads to deviant behaviour and poor social adjustment. The self-concept has played an important role in theories of deviance. Its relevance to labelling theory is especially evident. The most compelling empirical evidence in support of these ideas is to be, in the work of Howard Kaplan (1980). Kaplan found that those with initially low self-esteem were consistently more likely than those with high self-esteem to have committed one or more deviant acts in the subsequent years. Delinquency, of course, is only one type of deviance. Crime, drug addiction, alcoholism, homosexuality, mental illness and so forth have also been viewed as deviance by various sociologists. Although the data are very uneven, the evidence is clear (Kaplan 1976, 1980) that the self-concept is implicated in each of these forms of deviance, either as cause or effect.

References :

1. Kaplan, H.B 1975; The self-esteem motive and change in self-attitudes. *Journal of Nervous and Mental Disease*. 1976; Self-attitudes and deviant response. *Social forces* 54:788-801. -1980. Deviant behaviour in defence of self. New York: Academic Press.
2. Morris Rosenberg and Ralph H. Turner, 1981. *Social Psychology*. Basic Books, Inc., Publishers, New York.
3. Runciman, W.C 1966; *Relative Deprivation and social justice*, London, Routledge.
4. Upadhyay, Usha 1982; A study of sense of deprivation among high school students. Ph.D Thesis B.H.U Varanasi, pp 13-17.
5. Wolffe K 2000; Growth and development in middle childhood and adolescence. In: AJ Koenig, MC Holbrook (Eds): *Foundations of Education*, 1: 135- 156.
6. Woolfolk A 2001; *Educational Psychology*. 8th Edition, Needham Heights, MA: Allyn and Bacon.

‘Mary Wollstonecraft(s)’: Tracing Mary Wollstonecraft’s Journey from the Margins to the Center of Literary Discourse

Shaweta Nanda*

This paper aims to trace Mary Wollstonecraft’s (1759-97) movement from the margins to the center of literary discourse. Her life and works are viewed and analyzed against the historical and socio-political circumstances prevalent at the time of their reception, thereby, attempting to account for the shift in her reception. Wollstonecraft’s reception is divided into three major phases. First is the early phase that deals with the reviews she got in her own lifetime. Second phase charts her reception from the period after Godwin published his *Memoirs of the Author of “A Vindication of the Rights of Woman”* (1798). Her reception in the twentieth century and the twenty first century constitutes the third phase. This part of the paper also deals briefly with the altered reception of her *Memoirs* at this time. Furthermore, Wollstonecraft has been read mainly in two ways. Up until the twentieth century critics focused primarily on her life. Later her works too received attention and were analyzed in the light of Feminism, Romanticism and Radicalism. The last part of the paper deals with critics who see her as a spiritual writer whose political philosophy is deeply grounded in theology.

Wollstonecraft was a radical figure who tried to become “the first of a new genus” by taking up a career as an author in the late eighteenth century. She wrote novels, letters, book reviews, conduct books, political treatises and children’s books. R.M. James points out that contrary to the general assumption, the first reviews of her political treatises like *A Vindication of the Rights of Woman* (1792)¹ were quite favourable. Her demands for intellectual equality and improved education for women generated positive reactions while those for political participation or change in women’s social behaviour

were ignored. Her *Letters Written During a Short Residence in Sweden, Norway and Denmark* (1796)² sold well and was reviewed positively by most critics.³

However, a frank discussion of Wollstonecraft’s love relationship with Fuseli and Imlay, her suicide attempts and her illegitimate daughter by Godwin in his *Memoirs of Wollstonecraft*, which he published after her death, shocked the conservative British readers and destroyed her reputation for about a century. Robert Southey accused him of “the want of all feeling in stripping his dead wife naked.” Horace Walpole called her “a hyena in petticoat” while Richard Polwhele attacked her in “The Unsexed Females” as she was a Jacobin who had given up to her “heart’s lust.” Many called her even a ‘prostitute’. She was virtually banned in the nineteenth century as “...her attackers implied or stated that no self-respecting women would read her work” (Sapiro 25).

Nevertheless, Wollstonecraft started becoming popular in America where the ideas about democracy, equality and human rights were gaining currency. Megan Oakley argues that despite her scandalous life, her writings influenced the attitudes and philosophies of the American women’s Rights activists like Lucretia Mott. In a speech delivered in 1866 at the National Woman’s Rights Convention, Mott encouraged women to study the writings of Wollstonecraft and described her as a Christ like figure who though initially scorned, would eventually save them all. When E.C. Stanthon and Anthony started their women’s rights newspaper, *The Revolution*, they honoured both Mott and Wollstonecraft as the founding mothers of their movement.

The advent of the twentieth century changed not only the way Wollstonecraft was received but also the manner in which Godwin’s *Memoirs of Wollstonecraft* were viewed. Initially when they were published, they were taken on face value and Wollstonecraft was condemned but now the attention of the critics turned away from Wollstonecraft to Godwin’s “manipulations” and his “editing” of Wollstonecraft’s corpus. Mitzi Myers in “Godwin’s *Memoirs of Wollstonecraft: The Shaping of Self and Subject*” (1981) underscores how the *Memoirs* are not only about Wollstonecraft but also about Godwin. She says “Godwin’s memoir is an unusual hybrid, one which unites Wollstonecraft’s notions of herself, Godwin’s reading of her

*Assistant Prof., Department of English, Central University of Himachal Pradesh

character and his analysis of that character's impact on himself and his philosophy". Furthermore, in "Biography as Autopsy in Godwin's Memoir" (2008), Angela Monsam compares the *Memoirs* to the contemporary medical writings and dissection reports from the 1790s. Using Myers's phrase she says "this work is certainly an "unusual hybrid", but of biography and autopsy which I term as "autopsical biography." She establishes the analogy by saying that "both Godwin's *Memoirs* and the dissection report function to dispel suspicions regarding an uncommon subject with a didactic purpose in mind".

Wollstonecraft's life "overshadowed" her writings especially in the twentieth century (Gary Kelly). Her life makes a "good copy" and interpreters often focus on the controversial episodes like her love for Fanny Blood or her proposal to live in with Fuseli and his wife (Sapiro). Cora Kaplan comments: "Rediscovery by the feminists whose agenda placed sexual and emotional freedom among the most important rights of women radically shifted" the terms of her reception. Thus, Wollstonecraft becomes a "heroine for disparate sexual radicals like Virginia Woolf and Emma Goldman" who embraced her life story and celebrated what Woolf calls her "experiments in living".⁴ Underscoring Wollstonecraft's radicalism Woolf writes, "the revolution was not merely an event that happened outside her, it was an active agent in her own blood. She had been in revolt all her life – against tyranny, law and convention." Woolf and Goldman did not dwell on the specificities of Wollstonecraft's feminism as expressed in her writings. For them the demands for education and legal parity had become standard and needed no further scrutiny. ⁵⁵Woolf comments : "their originality has become our common place"– says Woolf.

The life and works of Wollstonecraft have been interpreted in multiple ways. Upholding Wollstonecraft as the "pioneer of Modern Womanhood," Goldman in her 1911 lecture envisions her as a "tragic Romantic heroine who struggled for freedom for all human kind" (Sapiro). Wollstonecraft's reception in the canon of Romanticism owes largely to her *Letters written...in Sweden*. Mary Favert in her 1993 article points out that Wollstonecraft reflects strong influence of Rousseau in raising themes like "the search for the source of human happiness, the stoic rejection of material goods

and the essential role of sentiment in understanding." Rousseau ultimately rejects society while Wollstonecraft celebrates domestic scenes and industrial progress in her text. Myers in "Wollstonecraft's letters: Towards Romantic autobiography" (1979) points out that by describing breathtaking scenery of Scandinavia and desire to create an emotional connection to that natural world she gives "greater value to the imagination" than she had in previous works. Thus, Kelley comments that Wollstonecraft in these letters was 'prefiguring' romantic poets like Wordsworth and Coleridge who drew on its themes and its aesthetics.

The recent revival of interest in Wollstonecraft has been almost entirely owing to the emergence of feminist literary studies. She has been hailed as a literary "foremother" of Feminism. She becomes important in the 1960s and 70s possibly because of the Feminism's ideology that "the personal is the political."⁶ Her six major biographies published during this time presented her revolutionary, "passionate life in apposition to her radical and rationalist agenda" (Kaplan 9). Sapiro believes that Wollstonecraft's greatest and most ignored contribution was to insist that there was no radical juncture between public and private. She explicitly brought political arguments about rights and justice into the household as standard for evaluating relations between women and men.

Furthermore, Wollstonecraft's *Vindication*, where she argues that women are not naturally inferior to men, but appear silly because they lack the right kind of education, is considered as a classic text of Feminism. Gilbert and Gubar comment that it is the "first feminist criticism of misogynist images of women in literature." and "the first sustained argument for female political, economic and legal equality." Her novel *The Wrongs of a Woman, or Maria* (1798) is also seen as a feminist text as Wollstonecraft explores the need of women for reason, independence, companionship and freedom to express their sexuality (Janet Todd).

Recent scholarship has given more credit to Wollstonecraft as a political philosopher. Gilbert and Gubar argue that her "fervent radicalism extended from a critique of private property, political oppression" to analyzing the exploitation of the working classes. Her *A Vindication of the Rights of Men* (1790) was her first overtly

political text and was first "rebuttal" to Burke's *Reflections on the Revolution in France* (1794). She attacked Burke's defense of constitutional monarchy, aristocracy, the Church of England. She is "unique and unsurpassed" in her attack on Burke's gendered language (Claudia Johnson 11). Burke had associated the beautiful with weakness and femininity and the sublime with strength and masculinity. Wollstonecraft argues that "his theatrical tableaux turns Burke's readers into weak women who are swayed by show."

Wollstonecraft has been read as a feminist, romantic and political theorist. However, there are some critics like Barbara Taylor and Michelle Carlisle who talk about Wollstonecraft as a "spiritual writer". Carlisle points out that in "our religiously liberated modern society we have a tendency to secularize everything". Thus, one tends to overlook the fact that Wollstonecraft was a deeply spiritual writer and her entire philosophy of human rights is "profoundly grounded in theology". Carlisle argues that both Burke's text and Wollstonecraft's response to it are rooted in theology. Burke sees reason as the direct result of submission to God's law which includes subordination to the social order. In opposition to this Richard Price, whom Wollstonecraft supports, states that "every man ought to follow his own conscience" because only then he truly "acts virtuously." For Wollstonecraft reason is internal. It is "God's gift to all, the sign of his presence within" (Taylor).

Consequently, one notices that Wollstonecraft has come a long way from being condemned and relegated to the margins to the very centre of literary studies. The complexity of her work can be estimated by the fact that this writer of multiple genres has been received and studied by diverse schools (like feminism, romanticism, radicalism and spiritualism) in multiple ways over the centuries. Another aspect that shapes her reception is the context in which she is received. Critics focus on her life or writings depending on their own agendas and politics. Thus, there is not one Wollstonecraft but many as she has been appropriated in different ways by critics from Woolf, who upholds her life to justify sexual and emotional freedom of Bloomsbury group to Gilbert and Gubar who attempt to overcome the lack of literary foremothers for women by upholding Wollstonecraft as the one.

Works Cited:

- Carlisle, Michelle. "God and the Rights of Man." 2007. <http://ocw.nd.edu/political-science/mary-wollstonecraft-and-mary-shelley/research-papers/god-and-the-rights-of-man-by-michelle-carlisle>.
- Favert, Mary A.- "Letters Written During a Short Residence in Sweden, Norway and Denmark." *Cambridge Companion to Mary Wollstonecraft*. Ed Claudia Johnson. Cambridge: Cambridge University Press, 2002.
- Gilbert, Sandra and Susan Gubar. "Introduction" *Norton Anthology of Literature by Women: The Traditions in English*. New York: W.W. Norton & Company, 2007.
- Janes, R.M – "On Reception of Mary Wollstonecraft's "A Vindication of the Rights of Woman." *The Journal of the History of Ideas*. 39.2 (1987):293- 302 . *Jstor*<: <http://www.jstor.org/stable/2708781> />.
- Johnson, Claudia L. "Mary Wollstonecraft's Novels." *Cambridge Companion to Mary Wollstonecraft*. Ed Claudia Johnson. Cambridge: Cambridge University Press, 2002.
- Kaplan, Cora. "Mary Wollstonecraft's Reception and Legacies." *Cambridge Companion to Mary Wollstonecraft*. Ed Claudia Johnson. Cambridge: Cambridge University Press, 2002.
- Kelly, Gary : *Revolutionary Feminism : The Mind and Career of Mary Wollstonecraft*. New York: St. Martin's, 1992.
- Monsam, Angela ."Biography as Autopsy in William Godwin's Memoir's of the Author of "A Vindication of the Rights of Woman." " *Eighteenth Century Fiction* 21.1(2008): 109-130. *Project Muse*. <:http://muse.jhu.edu/journals/eighteenth_century_fiction/v021/21.1.monsam.html>.
- Myers, Mitzi. "Godwin's Memoirs of Wollstonecraft: The Shaping of Self and Subject" (1981) . *Studies in Romanticism*. 20.3 (1981) :291-361. *Jstor* .<:<http://www.jstor.org/stable/25600307>>.
- "Mary Wollstonecraft's *Letters Written...in Sweden: Toward Romantic Autobiography*." *Studies in Eighteenth-Century Culture Volume 8*. Ed. Roseann Runte. Baltimore: The Johns Hopkins University Press, 1979. 165-85.
- Sapiro, Virginia. *A vindication of Political Virtue : The Political Theory of Mary Wollstonecraft* . Chicago: University of Chicago Press, 1992.

Taylor, Barbara. *Mary Wollstonecraft and the Feminist Imagination*. Cambridge: Cambridge University Press, 2003.

Thompson, E.P. “Mary Wollstonecraft.” *Making History : Writings on History and Culture*. New York: New Press, 1994.

Woolf, Virginia. “Four Figures” *The Common Reader* (1929). ed Andrew Mc Neillie. London: Hogarth Press, 1986,163.

References :

1. A Vindication of the Rights of Woman will be referred to as Vindication subsequently in the paper.
2. I shall refer to Letters written during a Short Residence in Sweden, Norway and Denmark as Letters in the rest of the paper.
3. Godwin wrote “If ever there was a book calculated to make a man in love with its author, this appears to me to be the book”.
4. Woolf argues in “Four Figures” (1929): “One form of immortality is hers... she is alive ... argues and experiments. We hear her voice and trace her influence even new among the living”.
5. Woolf comments : “their originality has become our common place”– says Woolf.
6. Carol Hanisch in her 1969 essay gave this phrase and it became an important slogan of the Second Wave feminism.

Transcendence of Bodies into Love: C. Rajagopalachari’s *Hunchback Sunday*

Shahid Husain*

The present paper aims at elaborating Vedantic truth through the short story entitled *Hunchback Sunday* written by C. Rajagopalachari. The short story is a didactic and reformative piece of writing. It gives us the message that the beauty of the body gives only momentary pleasure, and it vanishes with the passing of time, while true beauty which lies in the soul stays forever.

As we know that Rajaji was an ardent worshipper of Vedantic doctrine, and a true son of the soil, he wanted to wipe out the evils of the society. His short story has a moral purpose and is woven around the burning issues of the day. For this Mahatma Gandhi used to call Rajaji his ‘conscience keeper’. The title of the story *Hunchback Sunday* is symbolically used. Being deformed and maimed, the girl is addressed Sunday because of her proficiency in learning and household matters.

The story starts with the conversation of two students named Kamala and Kamatchi in a room in the Veeresalingam hostel. They write a mischievous anonymous letter to a learned scholar and preacher Narasimha Sastri. Narsimha Sastri had been a sub-judge for twelve years, and had acted as a judge for a year. After sixteen years of marriage his wife gave birth to their first child, but on the seventeenth day after child-birth, the mother died of septic fever. His elder sister, a widow, stayed with him, made many attempts to convince her younger brother to marry again, but all in vain. He was determined not to marry again. But his bad luck did not end with this. His elder sister, who was looking after his daughter affectionately, died of cholera after half a year. Once again, Sastri was in great trouble, facing family pressure for re-marriage once again. He felt a big responsibility of bringing up his only daughter properly. For this he resigned from his office. Since then he remained a widower and

*Assistant Prof. Dept. of English, Mubarakpur, Girls Degree College, Mubarakpur, Azamgarh, U.P.

indulged himself in performing rituals and delivering sermon. He attained great fame as a delightful exponent of the Gita and the Upanishads. Thus he was called 'Gitaprasanga Siromani' (the jewel among Gita lectures). The story takes a turn when once both he and the girls happen to stand on their respective terraces at the same time. He has an eye to eye contact with the girls. For two or three days the same coincidence occurred. The girls disliked this and sent a letter to him in which they advised him to marry again so that he might save himself from disgrace. In spite of living such a simple and religious life for so many years, he was charged with lustful and amorous desires by the girls of the hostel. Mocking at his pseudo-religiosity they wrote:

"We had never heard anything to equal the wonderful discourse you gave in the Vasant Hall last Sunday. Until now no one has explained either the Gita or the Upanishads so beautifully...You lectured there for two hours without even taking a glance at the girls assembled there. People, who saw you, thought that you were a sanyasi without his yellow garb. But your behaviour for last two days belies this. You are dangerously straying from the path of virtue and are about to fall into the pit of sin".¹

Having read the letter, Sastri feels restless and sinks in deep pain. He does not know how to get rid of this disgrace. Though for sometimes he was in the mood of death and despair but then decides to marry again. He does not want to repress his sexual desires any more:

"What the girls have said is true. It is not use trying to suppress one's nature when it is not ripe for austerity. When the mind is impure, what is the good of physical suppression? I have disregarded the scriptures out of egotism. It is good to marry again".²

The girls of the hostel gave him a proposal of a suitable bride whom they have chosen for him. The girl, who is in her twenties with all good virtue, is the daughter of Govindarya. If he agrees with this proposal they will settle the marriage as soon as possible. So they want a sign of acceptance of this offer. If he spreads his silk-

bordered sash on the rope in the terrace and hangs his umbrella on it; it will be a sign of acknowledgement to the girls that he agrees to the proposal. After two or three days, he spreads his silk-sash on the line and hangs his umbrella on it. There is a great happiness in the hostel. The two girls dance in glee. It was a bet of Kamala and Kamatchi that made Sastri aware of his instinctual desires.

Govindarya, had the only daughter named Sundari, and had taught her a good deal of Sanskrit. But unfortunately the girl in her twelfth year became lame in the leg and developed a hunch in the back due to bad fever. The father tried his best to get his daughter married for which he promised a lot of money as dowry. In spite of that nobody agreed to marry her. Kamala who was a friend of Sundari went to Govindarya's home and told him that she had found a husband for Sundari. Previously, the father became angry, thinking she was making fun of his unfortunate daughter, but later on agreed. Next morning, Narasimha Sastri is invited to Govindarya's home to see his would be bride. Kamala welcomes him to the house. For a moment Sastri misunderstands Kamala to be his proposed bride, and enters the house happily but soon as he is shown Sundary he is full of disappointment and disgust. He tries hard to control his feeling of disapproval for her. It is his learning that comes to his assistance. Sastri shows signs of repentance for his amorous desires:

"Even when he started from Madras, he was in a mood of religious detachment, thinking he was obeying a divine command. So when he saw Sundari, he said to himself. Very well, this is my trial. I must win in the test. This is a just penance for my crime of bringing scripture and learning into contempt. I must consider myself fortunate if I am able to give shelter to this girl to whom fate has been so unkind".³

His true enlightenment helps him to overcome the feeling of repulsion. Sastri is satisfied with Sundari's behaviour and her skill in learning and household works. When she speaks, her appearance or physical form melts away and only her soul is shown. Sastri is happy that she will be an excellent mother to his little daughter, Lakshmi. He again shows his remorse for his actions:

"My soul will be cleansed of the impurity encrusting it, and will attain a better state. I have

not yet realized that body and soul are two different things. My mind is still in darkness and ignorance. I must still find true enlightenment. The beauty of the soul is not affected by the deformity of the body that encases it. The soul is a separate entity, a thing of beauty and joy. That is the assurance that our scriptures give us".⁴

It was the Vedantic philosophy that made him realize his mischievous thoughts. His religiosity and true knowledge of the Gita saves him. The marriage is settled and both the parties are happy. Govindarya finds a suitable match for his daughter and Sastri also finds a competent wife for him and an apt mother for his daughter. Govindarya touches the feet of Sastri as if he were an angel or god who came to rescue him from disgrace: "Sir, you are not my son-in-law but an angel come to save me".⁵ The two girls, who only wanted to make Sastri feel ashamed of his amorousness, praised him for his real learning and said that he is really 'a true Gitaprasang Siromani'.

The story then follows a different direction. Mother Sundari and daughter Lakshmi are conversing with each other on the bank of the river Cauvery. Lakshmi addresses Sundari as mother and asks her as to why people are of the view that she is not good-looking. Mother, trying to explain to her daughter tells her that her back is bent like a bow, while others have straight backs; she walks on her hands whereas others walk on feet. Lakshmi says the calf also walks like her and people consider it pretty. Thus her mother is not ugly. Sastri also agrees with Lakshmi's argument. Lakshmi has become philosophical when she says whenever she sees her mother, she never sees her body. If she sees the body of her mother she will never see her mother, because the soul sees the soul. There was a soul relation between mother and daughter and the body has become meaningless for the daughter. Thus Lakshmi has become a real source of the Vedantic philosophy for Sundari and her husband Narasimha Sastri. Hearing the words of his daughter, Narasimha Sastri embraces his daughter with joy and says:

"The meaning of hymn in the Upanishads became clear to me. The Upanishads speak like a child. The soul is the person that appears in the eyes. That is the verse. When I found you, I thought I

had in a way understood the hymn. But the child's talk today has made it clear to me. When two people see each other with perfect love, the body disappears from either's sight. Soul sees soul. That is what Lakshmi says. That is also what the hymn says".⁶

Sundari had also read the Upanishads. She defines it in a different way:

"When a seer or jnani closes his eyes and is in deep meditation he sees his soul with his mind's eye. The commentator says that this is what the verse means".⁷

Sastri agrees with her views. But the view of Lakshmi is the better and more practical than that of Sundari. When Sastri sees Sundari with concentrated affection, he sees her soul, and is content with this. When their eyes meet and they rejoice in it, it is not her face but her whole being which discloses itself to his eyes. If he sees her nose, forehead, or the *tilak* mark on it, or her eyebrow, only that part of her is seen, but she vanishes from his sight.

In this way the couple led truly a philosophical and elevated life. Their lives are full of mutual affection and warm regard for each other. Mutual affection and love is everything; physical beauty is nothing but an illusion. It vanishes with the passage of time, but the real beauty lies in the soul. Beauty and ugliness of the body of the groom and bride are only seen before marriage. But after marriage, when soul unites with soul, the physique disappears. Innocent Lakshmi's simple and fruitful remarks made Sundari and Sastri learn about the essence of the Upanishads.

References :

1. Ramanan, Mohan and P. Sailaja. Ed. *Prisms: An Anthology of Indian Short Stories*. Chennai: Macmillan India Limited, 1997. 02. Print.
2. Ibid, 07. Print.
3. Ibid, 09. Print.
4. Ibid, 10. Print.
5. Ibid, 10. Print.
6. Ibid, 13-14. Print.
7. Ibid, 14. Print.

The Effect of Occupational Stress on Teacher Effectiveness

Kuldeep Birwal*

Introduction : The effectiveness of the educational system largely depends upon the active, resourceful and competent teachers. An effective teacher not only impart the entire educational curricula allotted to him in best and most efficient manner but also ensure the best possible academic performance and an optimum development of the personalities to the student. In the present scenario when there is a fierce competition in every sphere of life, effectiveness of teacher becomes imperative to empower the students for facing the emerging challenges of global world. There are many factors which influence the effectiveness of intelligence, attitude towards teaching, experience, academic qualification, personality, mental health etc.

Occupational stress is a stress involving work stress is defined in term of its physical and psychological effects on a person, and can be mental physical or emotional strain. It can also be a tension or a situation or factor that can cause stress. A teacher is the medium through which objective and plans can be actualized. For this, teacher must have sound mental and physical health. Teaching is a profession where every day radical changes occur in the educational system. These changes are likely to increase rather than reduce the level of stress in teachers.

Occupational Stress : Occupational stress is a growing problem world wide, which results substantial loss both to employees and organizations [Cotton and Hart 2003] [Jarvis : 2002 definition]

Occupational stress has been defined as a situation where occupational related factor interact with the employees in a manner that disrupts or enhances his/her psychological conditions forcing them to deviate from normal functioning [Jarvis: 2002]

Teacher Effectiveness : Effective teachers take personally responsibility for students learning, determines the difficulty of the

lesion with the ability of the students, give the opportunities to students to practice newly learned concepts, provide direction and control of students learning use a variety of instructional, verbal methodology and visual aids and provide methods of learning with mental strategies for organizing and learning the context being thought teacher effectiveness has been operationally define as an effective teacher who has clear concept of the subject matter, ability to write clear objectives for his/her course, ability to organize learning materials, ability to communicate his/her knowledge to the students successfully, and to deal with classroom situations.

Harrison (1962) says, “*Most effective teacher is one who is most intelligent, is most adequately adjusted and has greatest strength of character. Hence teacher effectiveness is concerned with the relationship between the characteristics of teachers, teaching act and their effects on the educational outcomes of classroom teaching, effects on pupils have long been accepted as relevant criterion dimension of teaching effectiveness pupils growth, change, gain development learning and the like had often been considered as the ultimate criteria of effective teachers.*”

Stress : (Selye 1974), stress has been defined as “the state manifested by the specific syndrome, which consists of all the non-specific induced changes within a biological system”. Stress is usually thought of in negative terms like causing something bad or distress to the individual. But there is also a positive and pleasant side of stress, leading to good things.

Causes of occupational stress : The factor that lead to stress at the workplace are categorized mainly into four by summers et. al. (1994) (viz), personal characteristics organizational characteristics, structural and organizational characteristics, procedural and role characteristics.

The major cause of occupational stress enumerated by Apex (1985) are:

1. **Environmental factors**
2. **Job design faults**
3. **Employer – employee relationships**
4. **Social isolation**
5. **Failure to solve grievances**
6. **Fear of adverse health effects**
7. **Threat of job losses**

*Assistant Professor, Yash College of Education, Rukee, Rohtak

Need of Study : Stress is involved in everyday's life. The physical, psychological, professional, intellectual and social factors not only cause stress but also influence the efficiency of the teacher. Effective teaching is directly related with effective learning and the whole education process is designed to make effective learning. It means sound development of the learner directly and indirectly related with effective teaching. A teacher is the medium through which objectives and plans can be actualized. Teaching is a profession where every day radical changes occur in the educational system. Unless measures are taken to estimate and minimize the stress, the efficiency and expertise of teachers cannot be utilized to the optimum level. For a teacher stress results in disinterest in teaching, job satisfaction, laziness and burnouts which ultimately impair the effectiveness of teacher and this gives direct effect on the school students and their academic records.

Procedure of the study : In this study select a population sample to apply his research in order to arrive at a certain conclusion. It would be impracticable to study the whole population because some population samples are so large that their characteristics cannot be measured and before the measurement could be completed, the population would have changed thus the investigator to select some group which are representative of the population. . Hence in this study descriptive method was used.

Variable Used

Dependent variable: Dependent variable is that factor which is observed and measured to determine the effect of independent variables. It is an observed aspect of the behaviour of an organism that has been stimulated. – Occupational stress is the dependent variable in the this study.

Independent variable: Independent variable which is stimulus variable or input operates either within a person or within environment to affect his behaviour. It is that factor which is measured, manipulated or selected by the experimenter to determine its relationship to the independent variable in the present study. – Teacher effectiveness is the independent variable in this study.

Objective of the Study

- To compare the occupational stress between highly effective and less effective teachers.

- To compare occupational stress between male and female teachers.
- To compare occupational stress between less experience and more experience teachers.
- To find out relationship between teacher effectiveness and occupational stress of teachers.

Hypotheses

- There is no significant difference in occupational stress between highly effective and less effective teachers.
- There is no significant difference in occupational stress between male and female teachers.
- There is no significant difference in occupational stress between less experienced and more experienced teachers.
- There is no significant relationship between teacher effectiveness and occupational stress of teachers.

Delimitation of the Study

1. The study was delimited to a sample of 150 teachers only from Govt. and Private sector.
2. The study was confined in Rohtak, Delhi, Jhajjar and Sonipat district only.

Major Finding of the Study

Findings from the interpretation of the data, it has been revealed that there is a significant relationship between teacher effectiveness and occupational stress. There exists significant difference between occupational stress of male and female teachers. There exists significant difference between occupational stress of less and more experience teachers. So the more experience teachers are more stress than less experience teachers. There exists significant different between teacher effectiveness and occupational stress.

Suggestions and Limitations for Further Research

The present study is not an exception and suffers from all those limitations, which are inherent in such types of research. The limitations of present study may be enumerated as follows:

- This study was confined to 150 teachers. So the study not comprehensive its conclusions are not conversely valid this is however a beginning and the results hold promise for more comprehensive investigation for further research.

- This study was limited to male and female teachers. It can be studied on teachers on different religions and category.
- This study was limited to four cities; it can be studied on State level or National Level.
- This study was limited to only total academic instructional based programme but it can be studied on teachers on special subjects.
- This study was limited only two independent variables. It can be studied on more variable live socio economic status, job satisfaction, anxiety level, personality, interest etc.

References

1. Aggarwal, Y.P. (1998) *Statistical Methods Uses and Computation*, New Delhi, Sterling Publishers Private Ltd.
2. Bohra, S.A.(1984) *The Value Correlated with Effective teachers*, *Asian Journal of Psychology and Education*. P=74
3. Carter, V.G. (1973). *Dictionary of Education*. New Yark: McGraw hill book co, p.320
4. Ganguli, H.C. (1955). *A discussion of some variables affecting attitudes of industrial workers*. *Indian Psychology*, 30:p.45-46
5. Glenn David (1991). *Journal of Indian Education*, Volume XX, Nov, P-17.
6. Jane (1990) *Indian year Book on Teacher Education*, New Delhi sterling publishers, Pvt. Ltd.
7. Husen. T(1985) *International Encyclopedia of Education*, Vol – qq-postlethwrite. T.N. Copyright, Permon Press Ltd.
8. Kemp and Hall (1992) *Survey of research in Education*, Volume – V NCERT.
9. Methew (1977) *Educational Research Volume-V* NCERT
10. Pritam, R.(1966)- *Job satisfaction- A summary of research*. *Indian Educational Review*, VI. No. 1, P.88-89.
11. Worthy J.C. (1960), *Organizational structure and employee morale*, *Amer social Rev*, 15:169-179

Analyzing Job satisfaction and Teaching Aptitude of male and female teachers of self-financed

Puneet Kumar*

Abstract

This research paper discusses the job satisfaction of male and female teachers in self-financed Colleges. Today, there is generally a widespread of Education has deteriorated because of mushroom growth of Educational Colleges in India. It becomes necessary to judge the Job Satisfaction of the Educational College teachers, so as to develop the budding Education of the present scenario. To achieve the objectives of the present study, the normative survey method was used. In this study, "Job Satisfaction" is alone taken as the independent variable. Job Satisfaction is analyzed in terms of the present satisfactory conditions of the Educational College Teachers. Based on the Statistical Research, the conclusion of the study says that the present role of Job Satisfaction forms a positively platykurtic distribution, which indicates that there is a greater satisfaction in the present job among the Teachers in Educational Colleges.

Introduction

Job satisfaction is an integral component of the work climate. It is the result of establishing a healthy organizational environment in an organization. It includes a feeling of satisfaction or dissatisfaction with the various segments of one's job. Job satisfaction is believed to be a good indicator of an employee's feelings on his work. Job satisfaction may be defined as a general attitude of an individual to his job. Positive attitudes to the job are equivalent to job satisfaction whereas negative attitudes to the job are equivalent to job dissatisfaction.

Today, there is generally a widespread feeling that teachers do not have satisfaction in their job at all levels of Education. Teachers all over the country often manifest this as the protests. The growing discontentment among teachers has resulted in the fall of standards in Education as a whole. At present, in spite of various plans and programmes to improve the conditions of teachers, serious attempts

*Research Scholar, Sai Nath University, Ranchi (Jharkhand)

have not been made to identify the factors affecting the Job Satisfaction of teachers. It is therefore considered necessary to conduct an investigation concerning the factors associated with the Job Satisfaction of teachers in Educational Colleges. Further there is no study available exclusively on Job Satisfaction of teachers in Educational Colleges. Hence there is an urgent need for the present study. Aptitude is considered to be an important characteristic of an individual, which can predict the future success or failure of an individual in one occupation or areas of occupations. Aptitude may be described as a specific ability or a specific capacity distinct from the general intellectual ability, which helps an individual to acquire degree of proficiency or achievement in a specific field. Jones was of the view that, 'aptitude is more than potential ability or ability expectancy. It implies fitness for job, we call it success expectancy. Aptitude tests measure ability to succeed in a particular kind of training. Scholastic aptitude tests measure ability to succeed in college or school. Vocational aptitude tests measure the likelihood of success in vocational training or in an occupation. For constructing an aptitude test in music, for example, one has to consider the factors which enter into good musical performance, like, ability to remember between differences in pitch, rhythm, pattern, intensity, etc. Present level of achievement in these tasks must provide a predictive index. Someone who has the aptitude to do clerical work has the prerequisite skills in manual dexterity, attention to detail and speed with repetitive tasks to complete many types of clerical work effectively and efficiently. In most walks of life, past performance is the best predictor of future.

Performance in the same realm of activity

The effectiveness of Education depends upon quantity of teachers working in an institution. The quality of teacher's in turn depends upon the quality of training received by them in different training institutions. As we know the quantitative and qualitative improvement of elementary and secondary Educations has raised problems of solutions of right type of teachers and enriching programmes of teacher preparation. Thus necessitates not only improving the knowledge and teaching competency of a teacher but also to inculcate in them desirable teacher like qualities. We know the teaching profession is one of the most important art of guiding students through a variety of selected teaching methods and methodologies, it should therefore, attract the brightest minds, finest personality and most committed young people. As a profession, it requires people who have right type of aptitude and attitude for teaching in bound to be a

successful teacher in future. As a teacher, we should enrich ourselves with different teaching methodologies in order to change the behavior of learners keeping in view their individual differences. The purpose of present study is to study the teaching aptitude of elementary and secondary teacher educators, so the investigator finds it relevant to study such a topic which has great significance in our present Education system. It will clearly reveal the picture of elementary and secondary teacher educators working at different levels and their influence on the present Education system. The result may guide teacher educators in devising their mode of teacher training, their methodologies, aptitude and attitude towards their profession.

Statement of the Problem

Today there exists a general feeling that the professionals do not have satisfaction in their respective job at various levels of Education. Hence there is a fall of standards in Education as a whole. In order to identify, which factor favors the satisfaction in the Job and which components of Job Satisfaction influence the working environment are to be analyzed for the betterment of standards of Education and simultaneously improve the working conditions. Hence the problem is identified as Job Satisfaction of Teachers in various Educational Institutions. Particularly, Educational Colleges have great impact on the youth to maximize the profession of education. It becomes necessary to judge the Job Satisfaction of Educational College Teachers, so as to develop the budding Education of the present scenario.

References

1. Manager and Eikeland (1990). Factors predicting staff intentions to leave the University. *Journal of Higher Education*.
2. Sundararajan and Minnalkodi (1991). Job Satisfaction of Teachers in Annamalai University. *Journal of Experiments in Education*.
3. Tim Hall (1993). Primary head teachers: their Job Satisfaction and future career aspirations. *Journal of Educational Research*.
4. Natarajan, R. (2001). A study on School Organizational climate and Job Satisfaction of Teachers. *Journal of Educational Research and Extension*.
5. Ray.S. (1992). A comparative study of teachers' attitude towards pupil and their Job Satisfaction. Doctoral Thesis. Utkal University.
6. Buch, M.B. (1983). Fourth Survey of Research in Education, Volume I, New Delhi, India, C.N.Roahead, Publication department, NCERT.
7. Journals Research article 491 www.iseeadyar.org/ijid.htm Indian Journal of Innovations and Developments Vol: 1 Issue: 10 October 2012

A study of Emotional intelligence of prospective Teachers in context to certain demographic factors

Preeti Tyagi*

Abstract

This study aimed to find out the emotional intelligence of B.Ed. Trainees, in context to certain demographic factors such as sex, level of education and stream. The investigator discussed the role of emotional intelligence because this factors can play a key role in making a life success. A sample of 124 B.Ed. Students were taken from two different B.Ed. College by using random and purposive sampling techniques.

Analysis and interpretation of data was carried out by using statistical techniques like mean, S.D. and t-test.

Introduction

Emotional abilities hold the key to a successful carrier. In every sense emotional intelligence essentially reflects our ability to deal successfully with other people and with own feelings. Most of the problems in our life, whether childhood problem, adolescent problems, home and family problems, work situation problems or political, regional or international problems are the result of misinterpretation of the involved sentiments, feelings and emotions of the concerned individuals, society and the nations.

The achievement of the aim depends upon certain personality variable specially the intelligence interest, attitude and aptitude emotional intelligence etc. Emotional intelligence have a key role in achievement.

Objective of the Study

1. To study the emotional intelligence of prospective teachers pursuing their B.Ed. Course in teachers training institutions.

2. To study the emotional intelligence of prospective teachers in context relation to certain demographic variables.
3. To compare the emotional intelligence of male and female prospective teachers.
4. To compare the emotional intelligence of graduate and post graduate prospective teachers pursuing B.Ed. course.
5. To compare the emotional intelligence of Arts and Science group prospective teachers.

Hypothesis of the Study

1. There is no significant difference between the mean emotional intelligence scores of male and female prospective teachers.
2. There is no significant difference between the mean emotional intelligence graduate & post graduate prospective teachers.
3. There is no significant difference between the mean emotional intelligence scores of prospective teachers belonging to Science and arts Streams.
4. There is no significant difference between the mean emotional intelligence scores post graduate arts & graduate arts prospective teachers.
5. There is no significant difference between the mean emotional intelligence post graduate & graduate science prospective teachers.
6. There is no significant difference between the mean emotional intelligence scores of post graduate arts and post graduate Science prospective teachers.
7. There is no significant difference between the mean emotional intelligence scores of graduate art and graduate science prospective teachers.

Methodology Population and Sample

In the present study a sample of 124 B.Ed. Student teachers from two colleges of Ghaziabad Distt. A random sampling technique was applied to select the colleges where as subjects were selected by the technique of purposive sampling.

Tools Used

The emotional intelligence test for Student teachers constructed and standardised by Dr. K.S. Mishra was used for present study.

Statistical techniques Used

To compare the emotional intelligence of the sampled subjects mean S.D. and 't' value were computed.

Results and Discussion

In the view of objectives of the study, the mean and S.D. were calculated from the raw scores. After this 't' values were calculate and tested at the 0.05 level and 0.01 of confidence.

The details interpretation is given in the following tables:

Table-1

S.No.	Sex	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	Male	49	20.40	5.91	1.200	NS.
2.	Female	75	19.29	3.26		

NS=Not Significant

Table-1 reveals that mean scores for emotional intelligence of male prospective teachers is higher (M=20.40) then mean scores of female prospective teachers (M=19.24). The calculated 't' value is 1.20 which is not significant at acceptable level of confidence.

Table-2

S.No.	Stream	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	Science	61	19.98	6.08	.6046	NS.
2.	Arts	54	19.35	5.12		

Table-2 depicts that mean scores for emotional intelligence of Science prospective teachers is higher (M=19.98) than mean scores of Art prospective teachers (M=19.35). The calculated 't' value is .6046 which is not significant at acceptable level of confidence.

Table-3

S.No.	Quali.	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	P.G	74	20.24	7.50	1.786	NS.
2.	Graduate	50	18.4	4.25		

Table-3 reveals that mean scores for emotional intelligence of Post Graduate prospective teachers is higher (M=20.29) than mean scores

of graduate prospective teachers (M=18.4). The calculated 't' value is 1.786 which is not significant at acceptable level of confidence.

Table-4

S.No.	Quali.	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	Science	61	19.98	6.08	.6046	NS.
2.	Arts	54	19.35	5.12		

Table-4 depicts that mean scores for emotional intelligence of Science prospective teachers is higher (M=19.98) than mean scores of Artprospective teachers (M=19.35). The calculated 't' value is .6046 which is not significant at acceptable level of confidence.

Table-5

S.No.	Quali.	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	Arts P.G	33	20.67	4.80	0.217	NS.
2.	Sci. P.G	37	19.86	5.57		

Table-5 reveals that mean scores for emotional intelligence of Art post graduate is higher (M=20.60) than mean scores of Science Post graduate prospective teachers (M=19.86). The calculated 't' value is 0.217 which is not significant the hypotheses.

Table-6

S.No.	Quali.	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	Arts P.G	33	20.60	4.80	2.23	NS.
2.	Ar. Grad.	21	17.85	4.13		

Table-6 highlights that the mean scores for emotional intelligence of Arts Post graduate prospective teachers is higher (M=20.60) than arts graduate prospective teachers. The computed value of 't' is 2.23 which is significant at 0.05 level of confidence.

Table-7

S.No.	Quali.	No. of Student	Mean	S.D.	T-Value	Significance
1.	Sc.Grad.	24	20.33	6.41	0.293	NS.
2.	Sc. P.G	37	19.86	5.57		

Table-7 reveals that mean scores for emotional intelligence of Science graduate teachers is higher (M=20.33) than mean scores of Science Post graduate prospective teachers (M=19.86). The calculated 't' value is 1.20 which is not significant at the acceptable level of confidence.

Conclusion

On the basis of findings of the present study it may be concluded that sex, stream of subjects, level of educational

qualification do not contribute in determining the level of emotionality or emotional intelligence i.e. self awareness, Self management, Social awareness and social skills except in case of Post graduate and graduate arts prospective teachers who had shown significant difference in emotional intelligence post graduate arts prospective teachers were found more emotionally mature in comparison to graduate arts prospective teachers.

Reference

- 1 Chopra, R.K. (2000). A study of working condition of primary school teachers in Haryana in Indian Educational Abstract New Delhi, (NCERT)
- 2 Swami, S.K. (1996) Different factors in academic success of Science and humanities teacher trainees of B.Ed. course, Ph.D. Education Utkal University.
- 3 Barren, E. & Guilford, R. (1996). Emotional intelligence and academic intelligence in career and life success. Paper presented at the Annual Convention of the American Psychological Society.
- 4 Mayer J. Caruso, m D. & Salovey, P.(1999). Emotional Intelligence meets Traditional Standard for Intelligence. *Intelligence*, 27(1),281-296.
- 5 Salovey, P., & Mayer, J. (1990).Emotional Intelligence, imagination Cognition and Personality, 9(3), 185-211.
- 6 Boyatzis, R.E., 2001; Goleman, D & Hay Group The Emotional Competence inventory (ECI) Boston: Hay group.
- 7 Goleman, D, 1995; Emotional intelligence New York. Batam Books.
- 8 Mayer, J.D & Salovey, 1992; P. The intelligence of emotional intelligence. *Intelligence* 17. 433-442

Quality concern in Teacher Education through innovative practices

Priyanka Sharma*

Quality education is a key factor that provides a competitive edge to the nations. World is looking for trained people in the entire basic field with sound knowledge base and the ability to adapt to ever increasing demands In order to take advantage of changing world demography, there is need to produce trained persons on par with global standards. This expansion is also accompanied by the diversification of provider, students' programmers and changing sources and mode of financing, all posing challenges to the management of the system .Higher education institution have therefore been introducing reform measure to improve their operational efficiency. Facilities for acquisition of knowledge, creating new knowledge and dissemination of knowledge are to be extended to the marginalized masses in a big way in the rapidly changing scenario of the 21st century. In the present day society, the quality has become the keyword due to Liberalization, Privatization and Globalisation.Now a day there is no existence without quality.

It needs to help teacher Education programmes to accommodate new researches, innovations,skills,methods and approaches to prepare dynamic and efficient teacher trainees to handle the curriculum of school education.To make possible it is needed to adopt some innovative strategies in teaching and learning.

Concept and Definitions of Innovations:

The word 'innovation' is derived from the Latin word "Innovare" which means to change something to something new. The dictionary meaning of innovation is the promotion of new ideas..NCERT states that innovations is more than having new ideas, it includes the process of successfully introducing them or making things happen in a new way. It turns ideas into useful, practicable and commercial product or services.

* Lecturer, Advance Institute of Management, Ghaziabad, U.P.

There are different views on innovations some emphasize newness, including anything perceived to be new by the people doing it or some see it as early adoption of new ideas, other as synonym with creativity and still other as the same thing as improvement and a final group as substantive

but not revolutionary change. Most of the opinion pointing towards the same direction as Change. Change, however can be incidental or accidental or planned and deliberate and is for the better. Innovations refer to planned and deliberate change.

New Ideas : Innovation involves the generations of new ideas .it involves using creativity to develop ideas and the ideas must be new in so far as they are either an improvement or something that is fundamentally new or the applications of existing ideas to a new context.

Application : Innovation involves the practical implementation of new idea, otherwise one is simply left with an unused invention. This implementation may also involve artfulness, creativity and skill to secure acceptance.

Significant change : Significance in this sense means that it must relate to some improvement that is deemed to be important. For example it must advance society, provide technological or economical progress or provide an organization with some capability or advantage.

In brief innovation is the creative generation and application of new ideas that achieve a significant improvement in the product, service, activity, initiative, structure, programme or policy.

Characteristics : Innovations are said to possess certain attribute or characteristics. The perceived attribute of innovations are important predictors of their success. An innovation requires widespread acceptance by group or social systems as also by the individuals .Only then it become successful and will be put into practice by organization.

Innovations which are easily divisible into small parts, effectively communicable, compatible not very complex and advantageous can relatively succeed compared with those which do not possess these characteristics. Hence to innovate is to create a new path in an original mode.

- New to the system of environment as perceived by individuals.

- Better than what is already in existence.
- A deliberately planned and not haphazard.
- Contextual to local system or environment conditions
- Capable of making unfamiliar as familiar
- Suitable for achieving predetermined goals.
- Positive in nature
- Something which results in the improvement of a system.

Innovation in Education –Innovation is a key driver of economic & social progress of any country. If absent Innovation stalls economics and stagnate communities. Indeed successful innovation depends upon the human creativity, knowledge, skills and talents that are nurtured and developed in large part through education .Major trends behind the drive for Innovation

In education and learning includes:

- Major global financial and economic crisis affecting badly many of the developed.
- Social and economic pressures to raise achievements levels and to ensure greater equity to outcomes for all students.
- Change in work, social and family life.
- Rapid advancing technologies.
- Need to motivate and engage students.

Taking various definitions and aspects into account innovation in teaching practices through **ICT** gives new ideas practices and services which arrive through creativity, interaction and in sight with the aim of improving on existing situation, practices or services. Technology can be used to create a nationwide distributed class room. Several leading institutions of liberal, scientific and professional education, particularly in the developed world are using it to good effect for class room teaching. By different innovative practices and diverse teaching-learning experiences, it is possible to simultaneously guide all learners in the class.

Information Communication Technology-For Innovative Teaching Practices.

As per the popular recent quote teacher + technology = a complete teacher and on other hand teacher – technology = teacher becomes zero. In the emerging trend in information communication technology, It is necessary to answer how, when and where than why. In last century teacher explains those entire how when the where aspects

of the concepts in the education. Now the students need much more than whatever a teacher has because of changing trend in the educational global scenario. Through ICT students as well as teachers can access wide range of extensive related concepts. The present scenario educational environment with regard ICT is quite contradictory. ICT is under used in Class Room by the teachers are grown from known information society. ICT is over used by the students outside the class room because students born as ICT natives. So information communication technology is need for innovative teaching practices.

Many new techniques are available for innovative teaching practices. Techniques such as resource based training, project based learning and problem based learning. The main goal of resource based learning is to provide the opportunity for all students to develop independent learning skills which will enable them to become lifelong learners. This innovative teaching techniques also emphasis the importance of establishing a community of learners. When project based learning is based on self directed learning that is usually conducted by small groups of students. Project play an important role in learning because in addition to the achieving objectives. Problem Moreover it facilitates better time management and rich learning environment with online programmes, CD-ROM, Audio-Video programmes; it is possible for a learner to be in touch with the teacher in a virtual mode. That is the technology not only enhances the reach of the word of mouth in managing knowledge but also improves the effectiveness and availability of the teacher to a learner.

Innovative Tools

Some other global trend, in ICT, include miniaturization, increased mobility enhanced processing power and reduced cost. In advanced countries, wide technology option, are practiced by institutions & practitioners for delivery of education. The use of such technologies should be based on analytical research on their impact on children's learning study habit, learning style, performance and context.

- * **Audio video & CD ROM,** * **Computer EDUSAT**
- * **Internet,** * **Web Based Information,**
- * **Learning Through CD-ROM** * **Virual Laboratories**
- * **Teleconferencing Multimedia**

Conclusion- Education must help learners to live their life with greater competence and greater confidence. It is possible only

when education is a good quality-where the learning process is positive and helpful where real learning takes place. Today's world is complex and knowledge is growing at fast pace so as a teacher educators we people have a responsibility to develop and use innovative teaching strategies and to make our pupil teachers so responsible and efficient in developing as well using innovative teaching strategy for which one has to understand the concept of innovation which was discussed in this paper. We can make out that the Information & Communication technology has made may innovations in the field of teaching. In the new Paradigm of Learning, the role of student is more important than teachers. The concepts of paperless and pen less class room are emerging as an alternative to the old teaching learning method. We have to heed the interactive teaching and this changing role of education is inevitable with the introduction teaching depends upon successful mode of communication and innovation. Now the stage has come to stay in the society that without ICT no one can perform their business. In education its role is very much significant and necessary to use for the empowerment of the society and for the cause of education All innovation must be home grown in the sense that whether they were initially conceived at home and for all of these a strong stage with vision is necessary to offer the national context to support innovation as a permanent corrective tool. Innovation is a key driver of economic & social progress of any country. If absent Innovation stalls economics and stagnate communities. Indeed successful innovation depends upon the human creativity, knowledge, skills and talents that are nurtured and Developed in large part through education.

References :

1. Chaudhary Sohanvir; EDUSAT Supported ICT networks & education for all: A case study University news,49(42), October 17-23,2011
2. Gaurav A.M. Management of quality in higher education, University News,48(18)
3. Jain, Seema; 'Inclusion of ICT in Higher Education' Technology Literacy for Today & Tomorrow. University News, 49 (41) October 10-16-2011.
4. Srividhya.K.; Quality Concern in Teacher Education
5. Sungoh S.M.,Quality issues in teacher Education,dspace.nehu.ac.in
6. Yadav,S.K. Innovation in Education

Household Income and Expenditure pattern People in Lucknow district

Shivani Srivastava*

Introduction-

Urban poor are assets of urban economy and are mostly involved in informal sector of urban economy. They have diversified and unstructured sources of income due to their irregular and seasonality of employment/ works. The common areas of interests of earning cash are wage/ labor, small scale business including vending; and private and professional services. Many youth are attracted either to private and professional services, which include secretarial services, repairing, maintenance and painting.

Similarly amount of family income largely depends on ethnic background, working hours, nature and seasonality of works. Amount other; there is a significant impact of education and working hour on household income. It is true that, large numbers of poor families are living in the squatter and slum area, they are not only poor and unemployed but some of the economically well- off people are also living in the area. We could not neglect them; they are assets of urban economy, hard working and decent people. However with poor policies

Household in three income categories- One just below the poverty line one at the middle of the income distribution and one at the top the distribution. Higher class be easily distinguished firstly by the type of houses in which they live secondly by the extent of household equipment the thirdly by the higher percentage of expenditure on certain items of daily consumption. The household equipment generally includes costly furniture, radio sets, gramophone, costly cloths etc. Generally they spend more on items like milk, meat, fish, egg vegetables, fruits, education, entertainment etc.

Middle class and rich families spend similar shares of their budget on clothing and shoes and food outside the home but poor families spend a much larger share of their budget on basic necessities

such as food at home, utilities and health care. Rich families are able to devote a much bigger chunk of their spending of education and a much bigger share to saving for retirements.

Lower group included in its fold a vast majority of persons forming the lowest stratum of the urban population. They were petty road-side. Shopkeepers hawkers, shoes-makers, dhobis, barbers, tinsmiths, carpenters, coddles etc. Their housing condition and diet differed considerably from the other two groups similarly amount of family income largely depends on ethnic background, working hours, nature and seasonality of works. Among them, there is a significant impact of education and working hour on household income. Keeping the above mentioned views in mind the present study was conducted with the following two objectives.

1. To know the difference between income and expenditure pattern of higher, middle and lower class families.
2. To know the problem faced due to income and expenditure pattern of the respondents.

Methodology:

The study is based on the primary data, collected through structured pretested questionnaire. Out of 100 respondents 33 respondents were from higher income group 33 respondents were from middle income group and 34 were from lower income group, selected randomly from urban area of Lucknow. Criteria for selecting higher income group was having the monthly income more than 50,000 per month where as middle income group families were having income Rs. 20000-50000 month; and lower income group families were having Rs. 5000-20000 per month..Results were checked and analyzed on percentage basis .

Results and discussion

Table-1

Distribution of respondent according to their income group.

S.No.	Topic	N=100	Percentage %
1.	Higher income Group	33	33
2.	Middle income Group	33	33
3.	Lower income Group	34	34
	Total	100	100

*Associate Prof. (Home Science), NSCB Govt. P.G. College, Aliganj, Lucknow, U.P.

Respondents were divided into three income groups ie. Higher, middle and lower income group.

Table-2

Distribution of respondent according to expenditure pattern of the respondents.

S.No.	% of total Income	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	65%	7	17	9	33%
2.	75%	16	16	15	47%
3.	85%	10	0	10	20%
4.	95%	0	0	0	0%
Total%		33%	33%	34%	100%

Total no. of expend income is 33% of respondent expend 65% income 47% of respondent expend 75% income and 20% of respondent expend 85% income.

Table-3

Distribution of respondent according to facing the problems due to low income.

S.No.	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	Yes	5	28	30 63%
2.	No.	28	5	4 37
Total%	33%	33%	34%	100%

Result shows that 63% (55 H, 28%M, 30% L) face the problems due to their low in come.

Table-4

Distribution of respondent according to their coping with income/ Security.

S.No.	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	Yes	12	11	9 32%
2.	No.	21	22	25 68%
Tota	1%	33%	33%	34% 100%

Shows that 32% of respondents (12% H, 11% M, 9% L) had taken loans for coping up with their income scarcity.

Table-5

Q. Do you expend your money according to your budget?

S.No.	Higher	Middle	Lower	Total No.	(%)
1.	Yes	21	22	15	58%
2.	No.	12	11	19	42%
Total%		33%	33%	34%	100%

Results conclude that 58% respondents (21%H, 22%M, and 15% L) spent money according tot heir budget.

Table-6

Q. How much you expend money on your child education?

S.No.	% of total Income	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	10%	7	11	12	30%
2.	20%	15	9	6	30%
3.	25%	10	4	0	14%
4.	5%	1	9	16	26%
Total%		33%	33%	34%	100%

On children education 605 of the respondents spend 10-20% of their total income, 40% of respondents 25-30% of their total income.

Table-7

Q. Do you give tax?

S.No.	% of total Income	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	Yes	28	5	0	33%
2.	No.	5	28	34	67%
Total%		33%	33%	34%	100%

Results show that 33% (28%H, 5%M, 0% L) of respondent give tax and 67% (5H, 28M, 34L) respondent did not.

Table-8

Q. How many times you go on vacation?

S.No.	% of total Income	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	One time	21	12	6	39%
2.	Two time	12	7	0	29%
3.	No.	0	14	28	32%
	Total%	33%	33%	34%	100%

Data showing that total number of respondents (21%H, 12%M, 6%L) prefer to go out for vacations once. Whereas 29% (12%H, 7%M,) respondent go on vacation twice and lastly and 32% (14%M, 28%L) respondent did not go out in vacations.

Table-9

Q. Do you expand money on entertainment?

S.No.	% of total Income	Higher	Middle	Lower	Total No. (%)
1.	Yes	30	20	12	62%
2.	No	3	13	22	38%
	Total Percentage	33%	33%	34%	100%

Study concludes that 30% of higher income group households were spending money on entertainment while 20% middle income group and 2% lower income group household spent money on entertainment.

Food grains (cereals and pulse) claimed the largest share of the total expenditure on food, the allocation being as high as 52 percent or Rs. 44 per month. One third of the total expenditure of high group was on cereals only milk and vegetables part at the income was absorbed in meeting the urgent needs of existence, food and fiber.

Saving and Investment and housing- High family was mainly taken for business purpose or for long-term investment in land house etc. But in middle class family some families invested this surplus in life insurance, national, saving certificate, provident fund or in held it in the form of bank deposit or in cash.

Household equipment and family possession- A majority of families in high group possessed good furniture the furniture included chairs tables, The household of these families consisted of brass and copper utensils but middle class consisted of brass and copper utensils necessary for daily use, many aluminum utensils and some earthenware. Generally all families possessed chairs or stools but not tables and cots.

Literacy and Education- Middle class, all the families seemed to be fully aware of the importance of education but they had nothing like education plans for their children. Probably because of their limited resources, lower class living from hand to mouth obviously could not provide education to their children the percentage of literacy was very low and this too restricted to the primary stage. A few families could afford to send their boys for higher education.

CONCLUSION

The study described household income and expenditure of higher, middle and Lower class families. Middle and higher class families spent similar shares of their budget on clothing, food, the shelter and vacation. They give tax and save money. Higher families save a large percentage of amount and also their expenditure pattern is high but middle class family expend money according their budget. Lower class families spent largely on their fulfillment of basic needs such as food, home, utilities and health care. Their housing condition and diet differed considerably from the other two groups. and working mechanism, they are discouraged and largely ignored in the development process.

References :

1. Anwar, T.(2009), Measuring Inequality of consumption and opportunities in Pakistan. Pakistan Economic and Social Review,, 47(2), 157-181
2. Babar, A and Shahnawaz, M (2010), Household consumption pattern in Pakistan :an analysis, Forum Journal of Economic Studies,
3. Mishra, P. and Parikh A; (1992), Household consumer Expenditure inequalities in India :A decomposition analysis .review of Income and wealth, Blackwealth publishing. pp 225-236.
4. Srivastava,A and Mohanty S K;(2010), Economic Proxies, Household consumption, Economic and Political weekly, vol 45 no 16 pp 56-63.

E-Learning : A Study

Chandra Prakash Dubey*

Abstract:

The Paper concentrates on the faculty collaboration & student evolution in colleges IT focuses on what's in e-learning it's also focuses need for e-learning. Further discuss the advantages & disadvantage of e-learning. It also focuses on the role of libraries in e-learning & future of e-learning is the modern information provider tools. E-learning is nothing but educate & train user to use modern technology with internet in a better way to restive & search information for their use.

Keyword: E-Learning, Synchronous learning.

Introduction:

E-learning is a wide set of applications and processes which use all available electronic media to deliver vocational education and training. The term covers computer-based learning, web-based learning, and the use of mobile technology; it includes virtual classrooms and digital collaboration and uses. There are many identifiable drivers for ICT- enabled instruction, and these may be classified as technical innovation, organizational and business developments, or characteristics of the needs and demands of the individual learner. Often it is a combination of these three components that brings about change. Drivers for e-learning continue to be a mixture of the advent of new technologies, the expectations of user growing up with new technologies and increasingly using them for productivity and pleasure; the quest for efficiencies in the delivery of training; organizational initiatives to maintain currency with developments in technology; and policy initiatives.

The simplest definition is “any form of training that user a computer network for course delivery. Interaction. Or facilitation and a browser for learner interaction.” As higher bandwidth becomes more common. E-learning is identified primarily with using the web, or an intranet's web, to take advantage of the web's visual environment and interactive nature.

*Research Scholar, J.J.T. University, Rajasthan.

New Trends in E-learning:

“web 2.0 is the business revolution in the computer industry caused by the move to the internet as platform, and attempt to understand the rules for success on that new platform.” A web 2.0 site allow users to interact and collaborate with each other in a social media dialogue as creators of user-generated content in a virtual community in contrast to websites where user are limited to the passive viewing of content that was created for them. Examples of web 2.0 include social networking sites, blogs, wikis, video sharing sites, hosted services, web, application, smash-ups and folksnomies.

Social software has played a major role In changing the ways people interact online. It has led to the birth of the read write web, where users consumers and producers of online content. The term “social software” is difficult to define because it can include so many different tools.

Social software is defined as a tool that must meet at least two of the three following conditions:

- 1) It allows people to communicate, collaborate, and build community online.
- 2) It can be syndicated, shared, reused, or remixed, or it facilitates syndication.
- 3) It lets people learns easily from and capitalize on the behave or knowledge of other.

Social media is the future of communication, a countless array of internet based tools and platforms that increase and enhance the sharing of information in general increasingly fluid among internet users. Social media has relevance not only for regular internet users, but business as well.

Platform like My space, Facebook and linked in have created online communities where people can share as much or as little personal information as they desire with other member. The result is an enormous amount of information that can be easily shared, searched, promoted, disputed, and created.

Tags with software that makes the categories of these resources relatively simple and you have created a personal searchable database of information. By doing the little bit of work it on the internet. When you look at all of these personal database as a whole, patterns begin to emerge where similar resources have similar tags.

The word blog is shortened from the word “weblog.” It is often inaccurately described as an online diary that is subscribable, organized in categories, and displayed in reverse chronological order. A blog is similar to an empty book. It is how we use the book that turns it into something this book can be anything we want it to be from a sketchbook, a diary, a dictionary or writing portfolio it depends on the content that we put into this book.

- Blogs offer the ability to archive content that is posted by date.
- The commenting feature of blogs allow for immediate feedback on a posting.
- The content that can be posted to blog can be text, images, files, audio and video.
- Publishing postings to an intranet or the internet can be done quickly and easily.

Advantage Of E-learning:

- Flexibility, accessibility, convenience.
- Cross platform support
- Browsers and internet connection are widely available.
- Inexpensive worldwide distribution Ease of Updates.
- Saving in travel cost and time.

Disadvantage:

Learners with low motivation or bad study habits may fall behind.

- Slow internet connections or older computers may make accessing course materials frustrating.

References:

1. Patil, Sambhaji and Jain, Vijeeta. 2012; E-learning innovative practices in LIV education and services in the present era P.P. 291-297.
2. Urkudhar, Sunil E-learning, innovative practices in LIS education and services in present era pp 298-301.
3. www.alsoiastute.edu.com
4. Gupta, priyanka, & Jaiswal, Vijay, E-learning in higher education, university news Vol 48 (03) jan 18-24-2010.
5. Kumar, santosh, Zayapragassarazan & Ramganeth, E-learning in Medical Education, University news Vol 49 No. PP. 210-214.
6. Prof. Yojraj S. Firke, prof varsh B, snkar, prof. kuldeep pawar (2013) conference paper at deopav, Dule.

Importance Of Soil In Environmental Sphere

Manjeera Acharya*

This paper is about soil and its importance in environmental sphere. The long history of earth embraces long history of soils which play very important parts to influence biospheric conditions and human lives, animal as well as plant lives also. Here the classifications of soil throws light about the various functions and nature of interplay between soils and other atmospheric conditions.

Soils constitute various medium of organic activities such as energy, matter of functions, biological cycling, environmental balances, mineral dispositions, nutrient supply etc. The performances of soil for energy distribution, material distributions, mineral affording, making and breaking of soil elements (by disintegration or decomposition), water storage flow of water, various species' niche development or changes required within, biological setting by cycling methods etc are undoubtedly considered factors of immense values and considerations. Not only flora fauna but human society, itself has much significance in soil operation. Building factories, roads bridges, and types of constructions' foremost requirement lie in prior assessment of land and soil, for formidable planning etc. Animal, climate, food factors, vegetation and human life itself are interrelated with soil, climate water, sunrays in biospheric atmospheric conditions. **Soil Forming Processes :** Soil forming process pass through various stages in historical manners. It's speed is low but at times dynamic which paces with geographical conditions. Changes in soil properties, layer movement and formation, rapid movements from slow scale to rapid transitional conditions etc are all results of soil formation processes. There are four major types of soil components related to nature, geographical conditions, social conditions and scientific perspectives. They are more or less influencing Soils for preservation as well as movements.

*Senior Lecturer, Agrasen Kanya P.G. Autonomous College, Varanasi, U.P.

1. Flora, fauna, organic matter, 2. Soil atmosphere,
3. Inorganic minerals, 4. Soil Solutions

The above mentioned component are of major importance but some other factors also have their contributions in soil preservation and improvement policies.

Explanation of Components : About 5% to 10% of animals and plants are found in soil system. To separate ground living organisms from soil and ground both living ones is difficult. The organisms's sizes also vary from 20cm in length to 20 micrometers. Types of animals, insects (of vertebrates or invertebrates) vary from 1cm to more weights. Three types of animals or insects e.g., macro, micro and meso animals (from 1cm to 0.2mm in length) are available such as, Macro include- Moles, Shrews, Hares, Rabbits, Squirrels, Gophers, Rodent, Tropical Amphibians, Reptiles, Worms, Snail Slug Insects, Mites, Spiders etc, In Micro brands it includes smallest organisms in soil environment and their lengths are usually less than 0.2 mm.

Mesoanimals in Size : Mole, Potworms, larvae, Millipods and Isopods, Spring tails, Spiders are available in this group.

Categories of Soil Fauna :

1. Carnivores : Mites, Nematodes, Centipedes, Molluses,
2. Phytophages : Those fauna which feed in Either Plants or Roots.
3. Saprophages : Animal Feed on Dead or Decomposed Organic Matter.
4. Mycophytic Feeders : They feed on Spores, Lichens, Fungi, Algae
5. Composite Animals : They feed on variety of Materials.

Parent Rocks and Material Erosion of Soil : The word 'erosion' is derived from the Latin word 'Erodere' meaning 'gnaw out'. Over thousands of years, building of soil had been and is in the process and it is most precious natural resource, soils get preserved and protected resource, soil get preserved and protected by cover of plants and soil binding properties. The upper most layer of soil is vital component having all types of nutrients necessary for the plants; It is called feeding zone of plant. It is valuable and is mostly placed at the depth of 15 to 20 cm over the face of land, soil is dynamic and healthy, alive which consist of microorganism like bacteria, fungi, worms, insects, protozoa, algae etc. To build healthy top level soil it takes

nearly 500 to 1000 years to develop an inch of top layer. When the top layer fertility or healthy maintenance is gradually degraded or lost the process of soil erosions the dreaded consequences can be mentioned in Dr. Rama Rao's words as- "Creeping death of the soil", Generally two types of soil erosions are found such as –

- a). The natural or geological erosion.
- b). Accelerated or man-made fast erosion.

In the first type of erosion there is balanced type of slow process of soil formation but in the second type of erosion the disaster warning is with the soil situation as its results of much soil exploitation are overt showing extensive damages to soil maintenances. It is world wide problem. As for example nearly 80 million acres of land in U.S.A. have become seriously eroded. About 56% are unsuitable for cultivation due to soil deficiencies and only 44% are utilizable for cultivation. It was estimated before that 2.5 million sq km arable lands now used has had much expenditure for regain and for maintenance from soil loss effects. Soil erosion, salination and water logging were estimated to degenerate land fertility and healthy maintenance of soil. A study conducted during year 2000 showed that leaving aside cultivable land even the unfertile unused lands, the area of farmland per person was to dwindle from 0.31 to 0.15.

Soil problems show disproportionate cultivation of land (Such as nearly 44% of land are used for cultivation whereas 56% are not much suitable for that). Repeated use of land for cultivation results in losing the capacities of crop yield as well as natural formation of soil, irrigation in large scale is harmful and topsoil wastage. When soil erosion exceed 2500 to 3500 tons, a great damage is done to soil-fertility and continued exploitation of land is definitely to pose grave threat leading even to survival problem.

Harms Done to Environment : Rivers, dams and varied constructions or roadways' organizations thereby collection of debris and throw to rivers or waterflow of any type connected to river, damage topsoil. In this way many rivers with their flow carry sediment loads and throw to riverside soil and wash topsoil functions Instances of Farbela Dam, Bhakra Dam, Spiti valley etc are there to show that due to this the river side cultivation and vegetation have had server problems for crop and vegetable growth. Due to deforestation the deforested or eroded Himalayas also cause a concern due to silt being washed away by rivers without any prevention. Govind Sagar Lake,

the sully river etc are also faced with the debris problems getting from river waters. A sample of water contamination of various rivers of different states are produced in the following table. The rivers are found to carry sediments loads spoiling and washing the topsoil's.

Rivers Countries and Annual Sediment loads :

River	Countries	Annual Sediment load (in millions) Metric ton
Yellow	CHINA	1,600
Ganges	INDIA	1,455
Amazon	SEVERAL	363
Mississippi	U.S.A.	300
Irrawaddy	BURMA	299
Kosi	INDIA	172
Mekong	SEVERAL	170
Nile	SEVERAL	111

The table is presented from Brown and Wolfs Book 1984

Compared to other countries it is evident that in India more loss is done to the cropland areas. Hence, having only 2.4% of land areas compared to other countries the Soil damage cannot be overlooked, U.S.A. data showed much less damage caused to soil than India. As for U.S.A it is found that sediment load of that country was 300 million tons where as India's load as 1955 million tons. India's soil loss counted as 4700 million tons whereas DSA Only 1700 million tons, China's Soil loss 4300 million tons and USSR 2500 million tons, Leaving aside China, India, USA counted to more or less 12200 million tons only.

References :

- 1 Okland, F. 1955; General Animal Geography Aschetion, oslo
- 2 Odum, E, P. 1959; 'Fundamentals of Ecology Sauders, Philadelphia
- 3 Naumov, N.P., 1955; Animal Ecology
- 4 Bridge, E. 1978; World Soil 2nd Ed Cambridge University Press
- 5 Bryan, R.B., 1981; Soil Erosion and Conservation in man and Environmental Proeen, Edt by Gregroy, K.J. and Walling, D.E Batterworths
- 6 Foth, H, D., 1978; Fundamental of Soil Science, John Willey, New York
- 7 Singh, J and Singh D.N, 1988; An Introduction our 1988 Earth and Environment; EDSE Varanasi.
- 8 Tripathi, B.D., Dwivedi, R.K., Tripathi, A, 1990; Water Air and Soil Pollution.

Moving Beyond the Rhetoric : New Global & Domestic Challenges of Enforcement in IHL

Pawan Kumar Maurya*

Anish Kumar Verma**

Abstract

The question of the application of Humanitarian Law in internal strife, question of violations of law and responsibility for it. The domestic law aspect of the issues, the human rights aspects in various manifestation, the protection of combatants and civilians, the questions of superior orders- a subject which has been torturing the minds of jurists for a long time the respecting of Humanitarian Law and the roles of Protecting Powers, the role of the International Committee of the Red Cross and also the contribution of the Independent commission on International Humanitarian Issues, The protection of civilians, protocol no.1 to the Geneva convention of 1949, or grave violations of Humanitarian Law.

Keywords:

International Humanitarian Law, Geneva Convention of 1949, Humanitarian norms, Additional Protocols of 1977, Hague Convention of 1899, Public International Law, Prisoners of War (POWs), Independent Commission on International Humanitarian Issues, Red Cross and Red Crescent.

Contents : Introduction

1. Meaning of International Humanitarian Law
2. History and Development of International Humanitarian Law
3. International Humanitarian Law and Domestic Legislation
4. Legal Qualification
5. International Red Cross and Red Crescent Movement
6. Present State of National Legislation Implementing International Humanitarian Law
7. Lack of Political will to Implement Humanitarian Law

*Law, IIIrd Year, BHU, Varanasi, UP

**Editor, Research Discourse, Varanasi, UP

8. Case Studies
 - a. Israeli- Occupied territories
 - b. Conflict between Iraq and Iran
9. IHL and the Recent Conflicts in India
 - a. Indo-Pak Conflict in Kashmir
 - b. The Goa Operations
 - c. The Indo-Chinese Conflict in 1962
 - d. The Indo-Pak Conflict of 1962
 - e. The Indo-Pak War of 1971
10. Conclusion

Introduction

The seeds of International Humanitarian Law in the last century were sowed in the mind of Henry Dunant, a Geneva businessman way back in 1859 when as a tourist, he saw the consequences of a dreaded war in the Battle of Solferino. He saw the sufferings of the vast humanity died with a handful of surgeons virtually powerless to help the wounded. He embarked upon laying down the seeds of International Humanitarian law which through various stages ultimately culminated into the Geneva Conventions of 1949 and the two Additional Protocols are human beings and armed conflicts.

There is a tendency to think of International Humanitarian Law not as ‘hard law’ but rather as ‘soft law’. Goods deeds carried out for reasons of humanity, not pursuant to any categorical legal imperative.

1. Meaning Of International Humanitarian Law

The term ‘International Humanitarian Law’ refers to the whole body of rules in the Geneva Conventions of 1949 and their two Additional protocols of 1977, together with other rules designed to ensure protection and respect for human beings in armed conflicts.

International Humanitarian Law has two branches. One bears the name of Geneva and the other the name of “The Hague”. The law of Geneva consists of four Geneva Conventions of 1949 and the two Additional Protocols of 1977 which constitute a legal corpus comprising some 600 articles codifying the rules concerning persons in armed conflicts. The law of Geneva or Humanitarian Law properly so called.

2. History And Development Of International Humanitarian Law

International Humanitarian Law which protects man against the consequences of war, is no new concept and is of concern to all

war, is no new concept and is of concern to all of us. I shall touch upon the very events that led to the advent of the modern IHL

A good definition of IHL applicable in armed conflicts has been made by the International Committee of the Red Cross (ICRC), as:

International rules, established by treaties and custom, which are specifically intended to solve Humanitarian problems directly arising from International or Non-International armed conflicts and which, for Humanitarian reasons, limit the right of parties to a conflict to use the methods and means of warfare of their choice, or protect persons and property that are, or may be, affected by conflict.¹

Jean Pictet looks closer at the notion of IHL to define its two different aspects: the law of war (in the wider sense), and human rights (in the narrow sense).

3. International Humanitarian Law And Domestic Legislation

Domestic legislation constitutes merely a part, though a crucial one, of the whole set of rules provided for ensuring the proper implementation of Humanitarian Law. The aim of the present study is to consider potential and feasible improvements in the national legislative implementation of international humanitarian law .

In International Humanitarian Law, general executive obligations have been designated with particular emphasis. Art. 1 common to the four Geneva Conventions of 1949 reads: ‘The High Contracting Parties undertake to respect and to ensure respect for the present Convention in all circumstances’.

This executive obligation has been strengthened and notably extended by Art. 80 of Additional Protocol I of 1977,

Legal Qualification

The legal qualification of what is often called the “ global war on terror” has been another subject of considerable controversy.² Under the Geneva Conventions of 1949, International armed conflicts are those fought between states. Thus, the 2001 war between the US-led coalition and the Taliban regime in Afghanistan (waged as part of the “war on terror”) is an example of an International armed conflict.

IHL does not envisage an International armed conflict between States and Non-State armed groups for the simple reason that States have never been willing to accord armed groups the

privileges enjoyed by members of regular armies.³ To say that a global international war is being waged against groups such as Al-Qaeda would mean that, under the law of war, their followers should be considered to have the same rights and obligations as members of regular armed forces..

4. International Red Cross And Red Crescent Movement

The texts of the Geneva Conventions of 1949 and the Additional protocols of 1977 offer references to distinct bodies such as the religious organizations, relief societies, the ICRC, or any other Humanitarian Organization of such nature. Apart from those references, some of the NGOs like the World Council of Churches, the Lutheran World Federation, Catholic Relief Services, and other voluntary agencies have been claiming a special role and competence in the field of Humanitarian assistance. On the other hand, some authors have emphasized the role of indigenous Humanitarian Organizations as well as the need to develop National Humanitarian NGOs.⁴ However, the special position of the ICRC has been recognized in clear terms.

Present State Of National Legislation Implementing International Humanitarian Law

There is much evidence that the present situation in national legal systems is highly unsatisfactory. On several occasions this has been proved by analytical examinations of a selected but representative number of national legal systems.

From 1963 to 1969, after a series of reports on measures taken to repress violations of the Geneva Conventions, the International Committee of the Red Cross admitted in Its comments that ‘in most cases normal penal legislation(penal code, military penal code) is inadequate to ensure repression of the breaches of the Geneva Convention’.⁵

Consequently, there is a menace to Humanitarian Law which is reflected in an increasing imbalance between the number of rules requiring active implementation through Domestic Law and the number of those that have been efficiently and universally implemented in this way.

Lack of Political will to Implement Humanitarian Law

A party may have no- or not enough- political will to comply with the provisions of Humanitarian Law. .

5. Case studies

a. Israeli- Occupied territories

b. Conflict between Iraq and Iran

In both cases the ICRC has played an important although limited role in protecting individuals. The cases also show that the possibility of maintaining contacts with the outside world is very important for protected persons.

6. IHL AND THE RECENT CONFLICTS IN INDIA

a. The Indo-Pak conflict in Kashmir-

b. The Goa Operations –

c. The Indo-Chinese Conflict in 1962-

d. The Indo-Pak conflict of 1965- .

e. The Indo-Pak War of 1971 –

Therefore we can say that, in India we can be rightly proud of our traditional adherence to International Humanitarian Law and of our total commitment to them. Ours is a country where the rule of law is paramount and the dignity of a human being is supreme. There is, however, no doubt that it is of outmost importance that all of us in general and the India soldier in particular should be fully aware of the fundamentals of the Humanitarian Law so that the International Humanitarian Law can be fully applied in the time of any International incidents in future.

CONCLUSION

If IHL is interpreted in a wider sense to include norms relating to both war and peacetime situations, the task of promoting respect of that law seems practically impossible. When there is no international relief law nor any binding universal legal instrument addressed to humanitarian assistance in peacetime, promotion of the respect of such law cannot be structured.

The Protecting Power is the key device for implementation of Humanitarian Law provided in those treaties and it will continue to be the implementation mechanism of the Geneva Conventions of 1949 and protocol 1 of 1977. It is apparent that the system can work only by agreements between belligerents and the protecting power at the outbreak of hostilities. In the present atmosphere of International relations,. no permanent or International body can perform that task.

In this regards of implementation of Humanitarian Law of armed conflict, sovereignty is still in the ascendancy, which is quite

natural also. That in itself is not evidence of a lack of reality in this new and Humanitarian Law of war, as adequate machinery for detailed supervision of the laws exists if the belligerents wish to choose. As one aspect of a protecting power's role is to verify compliance with the mandates of the Humanitarian Law, and to aid the states in fulfilling their obligations to enforce those laws, effective use of the protecting power system can accentuate the elements of reciprocity and mutuality which underline the relations between States.

References :

- 1 'Action by the International Committee of the Red Cross in the Event of Breaches of International Humanitarian Law', International Review of the Red Cross, March-April, 1981, NO. 221, at 76
2. More recently, it has been said that the " global war on terror" is limited to " Al-Qaeda , the Taliban and associated forces," but that characterization does not change the basic premises of the approach.
3. The sole exception is set out in Article 1(4) of Additional Protocol I and is subject to specific condition, i.e. the existence of a war of national liberation.
4. J. Engeland, Discovering a First Line of Defence. Indigenous Humanitarian Organization (Geneva, 1987) Institute Henry- Dunant, Working paper 1:87; Macalister-Smith, Humanitarian Action, op.cit.supra,note 3, at 8-9.
5. Respect des Conventions de Geneva. Mesures prises pour reprimer les violations (Reports presents par le CIRC a la XXe et XXle Conferences internationals de la Croix-Rouge), Geneva, Avril 1971, Vol. I, p. XIV.

i d r d l e h { k k

d g k j ® a d s t h o u l ä " k z d k s c ; k d j r k

* d g j o k y k d x h r ^

i k o s j 1/4 M / K 1/2 g f j ' k a d j f e J

i d r d ' k h " k z d % ^ d g j o k y k d x h r *] l E i k n d } ; & J h j f o d e k j x k M k , o a J h j k t s l n z i z k n x k M] i z k ' k d & l f j r k y k d l o k l d F k u] l y r k u i g] m o i d] i f k e l d j . k] 2013] i 0 & 50] e W ; & 80 : 0 e k =] v k b D , l O c h O , u 0 & 978 & 93 & 82180 & 02 & 9 A

जीवन और साहित्य में लोक का विशेष महत्व होता है। आज लोक की अवमानना किसी से छिपी नहीं है जिसके दुष्परिणाम भी प्रत्यक्ष है। आज लोक से संबन्धित विचारधारा, रहन-सहन, प्रकृति प्रेम, वाद्य, संगीत, औषधि आदि की सर्वथा उपेक्षा हो रही है। परिणामतः अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। अब विचारकों, चिंतकों, साहित्यकारों की समझ में आ गया है कि इन समस्याओं का निदान लोक से, प्रकृति से जुड़ने पर ही है।

हमारा देश लोक भावनात्मक स्तर पर और साधनात्मक स्तर पर बहुत समृद्ध है। संत कबीर ने स्पष्ट कहा है—'यहु जनि जानहु गीत, यहु है ब्रह्म विचार' संतों ने तत्त्व का प्रकाशन, लोक शैली, लोक उपमान और लोकप्रिय छंदों, गीतों में किया। संतों की इस परम्परा का लोक में निरन्तर अनुपालन होता रहा है। ऐसे ही एक सुधी संत लोक गायक श्री झिनकान धुरिया जी हैं जो लोकगीतों के माध्यम से जन जागरण और लोक मंगल में निरत रहते हैं। धुरिया जी एक तपस्वी साधक हैं स्वल्प साधनों अथवा साधनहीनता में भी अपनी साधना एवं तपस्या के बल पर लोक में जागृति का प्रकाश फैलाया है। कहरवा लोकगीत, शास्त्रीय संगीत में भी है। धुरिया जी लोक शैली और शास्त्रीय शैली दोनों में गायन करते हुए जन-मन मोह लेते हैं। आपके कहरवा लोकगीतों का वस्तुविन्यास बहुत उत्कृष्ट, शिक्षाप्रद, संदेशप्रद और मंगलमय है। निर्गुण, सगुण दोनों विचारधाराओं का बहुत सुन्दर समन्वय मिलता है। आपने अपने छोटे-छोटे कहरवा लोकगीतों में अदभुत चरित्र सृष्टि की है जिन्हें सुनकर लोग आत्मविभोर

* आचार्य, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उ००

हो जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध कहरवा गीत प्रस्तुत है जिन्हें धुरिया जी ने अपनी स्मृति में संजोय रखा है—‘गंगा नहाने से क्या हुआ जब घट अन्दर साफ नहीं, मंत्र माला लिये से क्या हुआ जब छोड़ा है मदिरा शराब नहीं’, शोभा क्या बरनो रघुबर कै’...आदि। एक अन्य गीत जो धुरिया जी ने—‘लूटै बजार हो रमइया के दुल्हिन’ गीत गाया है जो संत कबीर के सुप्रसिद्ध पद ‘रमइया के दुल्हिन लूटै बजार’ की तर्ज पर है। संत कबीर के चिंतन और अभिव्यक्ति में लोक की प्रमुखता है। उन्होंने लोक से ही उपमान लेकर गूढ तत्त्वों—रहस्यों को स्पष्ट किया है। इसी प्रकार ‘गुरु हमारे बनिया सहज करै बैपार, बिन डाड़ी बिन पलरा तउलत जग संसार’ कितना बोधगम्य और सटीक अप्रस्तुत विधान है।

धुरिया जी ने निर्गुण, सगुण, प्रकृति, विवाहगीत, भोरहरी, बारहमासा, चौमासा विरही गीत तथा अन्य शिक्षाप्रद और मन को एकाग्र करने वाले कहरवा लोकगीत गाये हैं जिनका संकलन इस पुस्तक में किया गया है। धुरिया जी द्वारा गाये गये और लेखकों द्वारा संकलित ये कहरवा लोकगीत लोक साहित्य के अध्येताओं, शोधार्थियों, गायकों और समीक्षकों के लिए बहुविधि उपादेय हैं। साथ ही इस पुस्तक में कहारों की उत्पत्ति और उनके जीवन संघर्ष को भी बयां किया गया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस भूमण्डलीकरण और बाजारवाद की चकाचौध में लोकगीत लुप्त होते जा रहे हैं इनके संकलन, संपादन, अध्ययन और अनुशीलन से हम अपने संस्कार और संस्कृति को बचा सकते हैं। इस कार्य में श्री झिनकान जी जैसे सुप्रसिद्ध, समर्पित गायक से यह अमूल्य संपत्ति प्राप्त की जा सकती है। यह हमारी महत्वपूर्ण विरासत है, इसकी सुरक्षा से ही हमारी अस्मिता की रक्षा संभव है। संपादकद्वय श्री रवि कुमार गोंड एवं श्री राजेन्द्र प्रसाद गोंड तथा प्रकाशक श्री कृष्णमणि चतुर्वेदी ‘मैत्रेय’ को इस लोकोपकारी कार्य को संपन्न करने हेतु साधुवाद देता हूँ। यह पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय, पठनीय और गेय है। इस पर स्वतंत्र अनुसंधान करने की भी बहुत संभावनाएँ हैं।

RESEARCH DISCOURSE : RULES AND REGULATIONS FOR RESEARCH WORKES

Research papers based on new, interesting and original research work from Social Science, Technical Science and Modern Science, are invited from Researches, Professors and Writers for publication in Research Discourse international research journal (Quarterly). Research papers should be critical and analytical of old and new studies in the related subjects, which promotes the knowledge of the study. Research papers should be rich of philosophical ideas and developmental issues. Research papers will be sent to subject experts for review before publication, the publication of research papers will be final only after approval of subject experts.

Please keep in mind the following points at the time of sending your research papers:

1. Research papers can be written either in Hindi or English.
2. Research Paper should not be of more than 1800 words.
3. Research paper on the International Standard basis should be typed only on one side paper of size 8.5" x 11" in double spacing. A summary of research paper of 250 words must also be sent along with Research papers.
- (a) One copy of computer typed Research Paper/Article along with C.D. should be sent to the Editor or E-mail on researchdiscourse2012@gmail.com in word file.
- (b) Please use Kruti Dev 010 font size 13 for Hindi and Sanskrit language research paper and ‘Times New Roman’ font size 11 for English research papers.
4. Please mention in brief the name of research methodology if adopted for preparing the research paper.
5. If table, chart, graph etc. have been used for analysing the facts, they should be attached on proper places and take care while giving reference.
6. The details of references should be attached on a separate paper in the last of the paper/article the standard form is as follows:

- (a) In case of book, name of writer, year of publication name of book (high light), Volume no., name of the publisher with full address and concerning page number should be given. For Example – Desai, A.R. 1979, “**Pasent Struggle in India**”, Oxford University Press, New Delhi.
- (b) For research papers – Name of the writer , year of Publication, title of the paper (in double inverted coma), name of the research journal (high light), Volume, Number, Page Number should be given. For example – Bajpayee, K.D. “Location of Pawa”, **Puratatva**, Number 16, 1985-86, Indian Archeological Society, New Delhi, page 40. If more than one reference has to be given for the same author in the same year after first reference following guidance should be used for all other references – Bajapayee K.D. 1985-86.
- (c) Full detail should be given in the first reference. After first reference, ‘Ibid’, should be used for more than one but the same reference with the name of the author and year of publication of research article and books.
7. For review of books published during last two years please send two copies of book.
8. Please also send a article of unpublished research papers.
9. The decision of the editor in regard to the selection of diagramms, graphs etc. will be final.
10. Writers/teachers/researchers are requested to contact, at least once, the editor on the mobile phone number 9453025847 or 8687778221.

Editor
Dr. Anish Kumar Verma
B.28/70, Manas Mandir
Durgakund, Varanasi-221005
 Mob. : 09453025847 / 08687778221
 Email : researchdiscourse2012@gmail.com
 anish.verma242@gmail.com

SUBSCRIPTION FORM/PROFORMA FOR RESEARCH DISCOURSE

1. Name :
2. Position Held (In case of Individual) :
3. Postal Address (Complete with Pin Code) :
4. Telephone No. :.....Mobile No. :
5. E-mail (If any) :
6. Mode of Payment : D.D./Cheque/ Pay Order/ M.O./ Cash
7. Particulars of Payment : Amount :
- No. Date
8. Subscription :

Rates	Per Copy	Annual Membership (Ten years)	Life Membership
Individual			
Indian	Rs. 1500/-	Rs. 4000/-	Rs. 15000/-
Foreigner	100\$	300\$	1500\$
Institutional			
Indian	Rs. 1600/-	Rs. 5000/-	Rs. 18000/-
Foreigner	120\$	400\$	1800\$

Note :

- (i) Please tick your option (Given Above).
- (ii) Please make payment in favour of **ANISH KUMAR VERMA**, payable at **VARANASI**.
- (iii) Postal charge extra.
- (iv) Membership fees of different categories of members of the Institute and the Journal is subject to change from time to time.

Date :

Signature

=fVI qkkj : Vol. III, No. 1, Jan-March 2013 अंक के सभी फोलियो पर त्रुटिवश 2012 प्रकाशित हो गया है, जिसके स्थान पर 2013 पढ़ा जाय।